ॐ

मुद्रक—

रा० रा० लक्ष्मण भाऊराव कोकाटे.

हनुमान प्रेस, सदाशिव पेठ घ. नं० ३००, पुणे.

प्राक्कथन

इस अशान्तिमय संसारमें समस्त प्राणी शान्ति प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छासे अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियाँ करते हैं, परन्तु बिना मार्ग मालूम हुये मनुष्य कदापि अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं कर सकता। संसारके तापसे संतप्त हृदयवाले भव्य प्राणिओंके लिये परम शान्तिके मार्गमें चलनेवाले तत्वज्ञानी महापुरुषोंने शान्ति प्राप्त करने के दो मार्ग बतलाये हैं। वे दो मार्ग एक तो गृहस्थ धर्म और द्वितीय सन्यस्त धर्म है। पूर्वकृत कर्मोंके प्रभावसे जो मनुष्य सांसारिक मोहके पाशसे सर्वथा छूट नहीं सकता. अर्थात् जो मोहके प्राबल्यसे सांसारिक भावों-वृत्तिओंका सर्वथा परित्याग करनेमें असमर्थ है उस मनुष्यके लिये शान्ति प्राप्तिका जरा लम्बा मार्ग गृहस्थ धर्म कहलाता है और जिसने पूर्वकृत शुभकर्मके उदयसे अथवा अपने मानसिक बल द्वारा परम पुरुषार्थसे या सांसारिक प्रवृत्तियोंसे खिन्नताको प्राप्त हो संसार सम्बन्धी वृत्तिओंके परित्यागका सामर्थ्य प्राप्त किया है और जो अपने भाई गृहस्थकी अपेक्षा शीघ्र ही परम शान्ति प्राप्त करना चाहता है उसके लिये जो कुछ कष्टसाध्य नजदीकका मार्ग है वह सन्यस्त धर्म कहलाता है।

इस सन्यस्त मार्गमें गमन करनेवाले सन्यासी, साधु, सन्त, महन्त, महापुरुष परम त्यागी, वैरागी और तपस्वी होते हैं। पूर्वोक्त गृहस्थ धर्म मार्गसे यह सन्यस्त साधु धर्म-मार्ग सर्वथा विभिन्न है। अर्थात् इन दोनों धर्ममार्गोंमें एक मकानके पहले और दूसरे मँजलके समान अन्तर है। यद्यपि

यह त्यागी धर्ममार्ग संसारमें प्राप्त होना बड़ा ही दुर्लभ है क्योंकि संसारके छोटे बड़े मूर्ख और विद्वान, वृद्ध और तरुण स्त्री और पुरुष समस्त प्राणियोंको अपने वशमें रखनेवाले मोहराज पर विजय प्राप्त किये विना यह त्यागी धर्म मार्ग मिलना सर्वथा अशक्य है, तथापि जिस भावनासे सांसारिक मोहक वृत्तियों पर संयम प्राप्त कर मनुष्य इस त्यागमय धर्ममार्ग पर आरूढ होता है उसी भावना से अन्त तक इस मार्गमें गमन करना सचमुच ही अपने एक कृत्रिम सबल शत्रुके साथ युद्ध करनेके समान है।

यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि जितना इस मार्गमें कष्ट है उससे लाखों गुना सुख और आनन्द भी भरा है। जिस महात्माको इस मार्गमें गमन करते संयमीय सुखका कुछ भी आस्वाद प्राप्त हुआ है वह उस आत्मीय लीनताजन्य सुखके सामने देवदेवेंद्रों तकके और चक्रवर्ती राजा महाराजाओं तकके सुख संभोगको तृण समान समझता है।

संसारमें हर एक मनुष्यको अपना ध्येय सिद्ध करनेमें सांसारिक लालचें पीछे धक्का देती हैं। जो बलवान है वह उन लालचोंके धक्के मुक्के को सहन करता हुआ—उस पर संयमन करता हुआ अपने इष्ट मार्गमें आगे धसता है और जो कमजोर है मानसिक वृत्तिओंके वश है वह उन तुच्छ लालचोंके धक्केसे फिसल पडता है। किन्तु अपनी असावधानीके कारण तुच्छ लालचों द्वारा फिसल पड़नेसे उसे अन्तमें कितना महान दुःख उठाना पडता है इसका अनुमान उसे उस समय नहीं होता। उन लालचोंके वश

पडनेके परिणाममें उसे शान्तिके बदले घोरातिघोर तीव्र वेदनाओंका अनुभव करना पडता है। अतएव परम शान्ति सुख देनेवाले इस त्यागमय साधुधर्म मार्गमें चलनेवाले महात्माको मानसिक कमजोरीके कारण पुनः उन्हीं लालचोंके वश हो जिनका कि उसने सोत्साह परित्याग किया है दुःख न भोगना पडे इसी करुणा हेतुसे शास्त्रकारने यह हितकर उपदेश दिया है।

इस ग्रन्थके रचयिता पूर्वाचार्य श्रीमान् मुनिसुन्दर सूरि महाराज हैं। उनका पवित्र जन्म विक्रम संवत १४ ३६ में और सन् १३८०में हुआ था। उन्होंने बाल्यावस्थामें ही जैनमतकी पवित्र दीक्षा अंगीकार की थी। महान् प्रतिभाशाली होनेके कारण उन्होंने अपने असाधारण व्यक्तित्वके प्रकर्षप्रभावसे जैनाचार्य—सूरिपद प्राप्त किया था। उन्होंने असाधारण ज्ञान द्वारा उपदेश रत्नाकर आदि महान् ग्रन्थोंकी रचना कर जैनसमाज पर अत्यन्त उपकार किया है। उन्हीं महात्माका एक अत्युत्तम अध्यात्म कल्पद्रुम, नामक ग्रन्थ है, जिसमें बड़े ही सुन्दर और भिन्न विषयक लग भग सोलह अधिकार हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषामें सरल श्लोकबद्ध और टीकासहित है। इस समग्र ग्रन्थको भावनगर निवासी श्रीयुत मोतिचंद गिरधर लाल बी. ए. एल. एल. बी. सोलीसीटरने गुजराती भाषामें विवेचन पूर्वक अनुवादित कर गुजराती जैन समाजको लाभ पहुँचानेका श्रेय प्राप्त किया है।

इस ग्रन्थान्तरगत सोलह अधिकारोंमेंसे एक यति शिक्षाधिकार नामक अधिकार (निबन्ध) है यह साधुशिक्षा उसी

का अनुवाद है। इसमें धर्मगुरु-साधु मुनिवरोंको अपना आचरण सुधारनेका उपदेश दिया है। इसके पढ़नेसे मालूम होता है कि मूल ग्रन्थकर्त्ता श्रीमान् मुनिसुन्दरसूरि महाराजके समय जब कि इस ग्रन्थकी रचना हुई थी उस समय भी बहुधा धर्मगुरुओंकी साधु मुनिवरोंकी आधुनिक समय जैसी ही पडती दशा होगी। अन्यथा उस समयका उपदेश आज कलके धर्मगुरुमुनिवरोंको यथार्थ रीतिसे किस प्रकार लागू पड़े ?।

यद्यपि इसका मुख्य विषय साधु मुनिराजाओंको उनके कर्तव्य मार्गमें चुस्त बनानेका है तथापि इसे पढनेसे गृहस्थ वर्गको भी महान् हितकारी उपदेश मिलता है। यों तो इस संपूर्ण ही ग्रन्थका हिन्दी भाषामें अनुवाद करनेकी सूचना मुझे मेरे परमोपकारी धर्माचार्य श्रीमान् वल्लभ विजयजी महाराजकी ओरसे की गई, थी. परन्तु अन्य कार्योंमें भी समय व्यय होता रहनेके कारण मैं उस संपूर्ण ग्रन्थका अनुवाद नहीं कर सका. किन्तु आधुनिक समयमें उपदेशकोंके योग्य उपदेश विशेष लाभदायक समझ कर इस विषयमें एक महान् गुरुकी आज्ञाको सिरसा वन्द्य कर भाई श्रीयुत मोतिचंद गिरधरलाल सोलीसीटर कृत गुजराती अनुवादित अध्यात्म कल्पद्रुममें आये हुये यतिशिक्षाधिकार नामक विषयको साधु शिक्षाके रूपमें हिन्दी अनुवाद करनेमें समर्थ हुआ हूँ। इस साधु-शिक्षासे यदि एक भी साधु या गृहस्थ अपने जीवनमें कुछ शिक्षा ग्रहण करेगा तो मैं अपने स्वल्प परिश्रमको सफल समझूंगा।

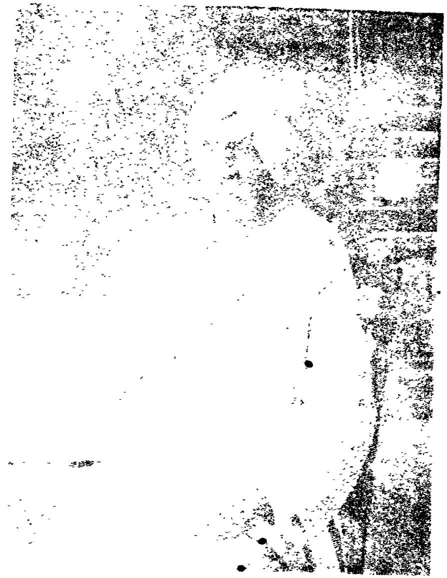
यद्यपि इस विषयका सविस्तर अनुवाद लिखते समय एकान्त हिताकांक्षाका ही ध्यान रक्खा गया है तथापि अन्तमें मैं पूज्य धर्मगुरुओं—मुनिवरोंसे यह प्रार्थना करके रुकसद होता हूँ कि यदि मूलग्रन्थ कर्त्ताके आशयका आश्रय ले या अपनी ही स्वतंत्रतासे आपके भक्तिभावमें लीन हो आपके हितार्थ इस मेरी लेखनीने यदि कोई कटु शब्द उगला हो तो तदर्थ आप क्षमावन्त क्षमा करें।

अक्षयतृतिया. सं. १९७९
भारत जैन विद्यालय
पूना सीटी.

विनीत—
भिक्षु तिलक विजय पंजाबी



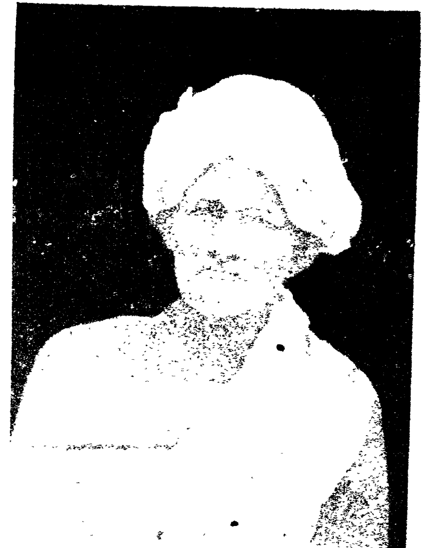
शा० भाईचंद मोतीचंद.



शा० केशवजी हेमचंद.



शा० तुळजाराम रामचंद



शा० रामचंद खेमचंद

साधुशिक्षा

संसारमें प्राणी मात्रको शान्तिका स्थान और आत्माको पवित्र–निर्मल बनानेका एक मात्र साधन धर्म है। धर्माव-लम्बी मनुष्य ही धर्माचरण द्वारा क्रमसे अपने शुद्धात्म स्वरू-पको प्राप्त कर सकता है। परन्तु धर्मकी बागडोर धर्मगुरु-ओंके हाथमें रहती है। धर्मगुरु ही भव्यात्माओंको निःस्वार्थ धर्मोपदेश दे उनकी आत्माका कल्याण कर सकते हैं और उनका जीवन उच्च बना सकते हैं। क्यों कि संसारी मनुष्योंको सांसारिक वृत्तियोंसे जकडे हुए रहनेके कारण स्वतः धर्मका स्वरूप जाननेके लिए अवकाश नहीं मिलता, अतएव वे बिचारे धर्मके मर्मसे अनभिज्ञ रहते हैं। परन्तु धर्मगुरुओंपर विश्वास होनेके कारण वे उनके कथन किये मार्गमें चलनेको तैयार रहते हैं। इस लिये पहले यही आवश्यकीय प्रश्न है कि उन धर्मगुरुओंका जीवन कैसा होना चाहिये? इस प्रश्नके उत्तर रूपमें उन्हीं धर्मगुरुओंको–साधुओंको लक्ष कर यहाँ पर शिक्षा दी जाती है जो धर्मके, समाजके नेता कहलाते हैं और अपने मनमें भी जो यह भावना रखते हैं कि हममें गुरुपन–साधुपन है। अद्वयतारकोपनिषद्में गुरुशब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है।

गु शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु शब्दस्तन्निषेधकः ॥
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ १ ॥

अर्थात् गु शब्दका अर्थ अन्धकार होता है एवं रु शब्दका

अर्थ निरोधक होता है, याने अन्धकारका निरोध करनेवाला अज्ञान तिमिरका नाश करनेवाला गुरु कहलाता है।

साधारणतः गुरु या साधु शब्दमें संसारसे विरक्त रहनेकी प्रतिज्ञा करनेवाले मुनि, साधु, सन्त, महन्त, यति, महात्मा, श्रीपूज, भट्टारक आदि सर्व त्यागी वर्गका समावेश हो जाता है। यदि इससे भी विशाल दृष्टिसे देखा जाय तो संसारभावसे विरक्त तमाम आत्माओंका समावेश हो जाता है। इस दूसरी अपेक्षामें वेशमात्र देखनेकी आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु उसका आचार देखा जाता है। इस साधु शिक्षासे धर्मगुरु या उपदेशक ही नहीं किन्तु दूसरे मनुष्य भी बहुतसा फायदा उठा सकते हैं, अर्थात् यह विषय सर्वोपयोगी है। क्यों कि इस विषयको जाननेवाला मनुष्य दम्भी प्रपंची, दुराचारीके फन्देमें एकदम नहीं आसकता। इस विषय पर विशेष विवेचन करनेका मुख्यतः यही कारण बतला सकते हैं कि विशेष श्रोताओंकी अपेक्षा एक उपदेशकको सुधारना अत्यावश्यक है।

जिस शुभ भावनासे मूलग्रन्थकार श्रीमुनिसुन्दर सूरिजी महाराजने यह विषय लिखा है उसी भावना द्वारा इस पर विवेचन किया गया है, अतएव इस विषयको मननपूर्वक पढनेसे पाठक बहुत कुछ लाभ ले सकते हैं।

मुनीश्वरका भावना मय स्वरूप।

ते तीर्णा भववारिधिं मुनिवरा-
स्तेभ्यो नमस्कुर्महे,
येषां नो विषयेषु गृध्यति मनो
नो वा कषायैः प्लुतम्।

राग द्वेष विमुक्त प्रशान्त-कुलषं
साम्याप्त शर्मा द्वयं,
नित्यं खेलति चाप्तसंयमगुणा
क्रीडे भजद्भावनाः ॥ १ ॥

मूलार्थ जिन महात्माओंका मन इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होता कषायोंसे व्याप्त नहीं होता, जो मन राग द्वेषसे मुक्त रहता है, जिसने कलुषता को शान्त किया है, जिसने समताके द्वारा अद्वैत सुखको प्राप्त किया है और जो भावनायें भाता हुआ संयम गुण रूप बगीचेमें क्रीडा करता है इस प्रकार के मनवाले महामुनिराज संसार-समुद्रसे पार होगये हैं उन्हें हम नमस्कार करते हैं,

वि० अत्यन्त विशुद्ध पवित्र दशामें वर्तनेवाले धर्मगुरु मुनिराजकी स्थितिका पृथक्करण करनेसे निम्न लिखित सद्गुणोंका उसमें आविर्भाव होता हुआ स्पष्टतया देख पडता है ? १ पवित्र धर्मगुरु मुनिराजका पाँचों इन्द्रियोंके तेईस विषयोंमें मन आसक्त नहीं होता, अर्थात् उनके शरीर पर कोई चन्दनादिका विलेपन करे या उन्हें कोई हलवा पूरी खिलावे तथापि उस पर उन्हें राग नहीं होता। वे अनेक प्रकारके सुगन्धित पदार्थों पर तथा सडी हुई मोरीकी दुर्गन्ध पर एक समान भाव रखते हैं। स्त्रीसौन्दर्यादि तथा अनेक प्रकारके मोहक पदार्थों को देख उनका मन मोहित नहीं होता। हारमोनियम, प्याना सारंगी, सतार, फोनोग्राफादि वाद्य तथा अनेक प्रकारके मनो मोहक संगीत सुन कर उनका मन क्षोभित नहीं होता,

अर्थात् उसमें उन्हें राग उत्पन्न नहीं होता, इन सबमें वे समान भाव रखते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ जो प्राणियोंको संसारमें परिभ्रमण करानेके मुख्य कारण हैं कषायोंके प्रबल कारणोंका अभाव होनेसे पूर्वोक्त प्रशान्त मुनिमहात्मा पर वे कुछ भी अपना असर नहीं कर सकते। सर्व दोषोंको पैदा करनेवाले महान दूषण राग और द्वेष हैं, इन दोनों दोषोंका स्वरूप वे भली भाँति समझते हैं अतएव अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न करनेवाले राग द्वेषसे दूर रहनेके लिए वे सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। अर्थात इन दोनों दोषों पर वे संयम रखते हैं॥

पहले और दूसरे गुणसे यह सिद्ध ही है कि किसी भी अशुभ अध्यवसायको उत्पन्न करनेवाले कारणके अभावसे उन्हें अशुभ कर्मका बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे समता रसमें लीन होते हैं और वास्तविक सुख—आध्यात्मिक सुखमें मस्त रहते हैं। वस्तुतत्वका यथार्थ ज्ञान होनेके कारण आत्मीयगुण ज्ञान, दर्शन, चारित्रके सिवा संसारके अन्य पदार्थों पर उन्हें ममत्व भाव ही नहीं होता।

पूर्वोक्त मुनिमहात्मा संयमद्वारा विकासको प्राप्त हुए आत्मीय सद्गुणरूप पुष्पोंके बगीचे में आनन्द करते हैं और अनित्यादि बारह भावनाओं तथा मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं तथा पांच महाव्रतोंकी पांच भावनाओं द्वारा अपने अन्तःकरणको सदैव पवित्र—निर्मल रखते हैं

यह उनका मात्र आदर्श होता है। इस प्रकारके सद्गुणों द्वारा उच्च और पवित्र जीवन बितानेवाले महात्मा स्वयं संसार सागरसे पार उतर जाते हैं और अपने आलम्बन

द्वारा दूसरोंको पार उतारते हैं। उन्हींका जीवन संसारमें मुमुक्षु प्राणियोंके लिये अनुकरणीय है, उन्हींका जीवन सफल है अतः धन्य है सदा कीमती उनके उस आदर्श जीवन को।

जिनकी आत्मामें आत्मीय गुणोंका विकास नहीं हुआ, जिनके अन्तःकरणमें मुनिधर्म वासित नहीं हुआ है वे वेश-धारण करने मात्रसे मुनि नहीं बन सकते। गीदड सिंहकी खाल ओढनेसे सिंह नहीं बन सकता। अर्थात् बाह्यवेश धारण करनेसे मोक्ष नहीं मिलता।

स्वाध्यायमाधित्ससि नो प्रमादैः,
शुद्धा न गुप्तीः समितीश्च धत्से।
तपो द्विधा नार्जसि देहमोहा–
दल्पेपि हेतौ दधसे कषायान् ॥
परीषहान्नो सहसे न चोप
सर्गान्न शीलाङ्गधरोपि चासि।
तन्मोक्ष्यमाणोपि भवाब्धिपारं,
मुने! कथं यास्यसि वेशमात्रात् ॥ १ ॥

सुगमम्।

मू० हे मुने! तू विकथादि प्रमादसे स्वाध्याय करनेकी इच्छा नहीं करता, और न ही शुद्ध गुप्ति तथा समिति धारण करता। देहके मोहसे दोनों प्रकारका तप भी नहीं करता, जरासा कारण उपस्थित होने पर भी कषाय धारण करता है, परीषहोंको नहीं सहता, उपसर्गोंको नहीं सहन करता, शीलाङ्ग धारण नहीं करता, तथापि तू मोक्ष

प्राप्तिकी इच्छा करता है। परन्तु हे मुने ! वेशमात्रसे संसार समुद्रसे किस तरह पार होगा ?

वि० प्रथम भावनामय स्वरूप कहे बाद अब व्यतिरेक-रूपसे मुनिका कर्तव्य कहते हैं।

वांचन, पृच्छना–शंका पडने पर ज्ञानवृद्धोंसे पूछना, परावर्तन–सम्पादित ज्ञानकी पुनरावृत्ति करना, अनुप्रेक्षा–अर्थ-विचार करना, तथा धर्मकथा करना, यह पांच प्रकारका स्वाध्याय मुनिराजको प्रतिदिन करना चाहिये।

ईर्यासमिति—सूर्योदय पीछे निर्जीव मार्गमें साढे तीन हाथ प्रमाण लम्बी सामने जमीन पर दृष्टि रख देख कर चलना। भाषासमिति-किसीको हानिकारक न हो इस प्रकारका सत्य, हितकारी, प्रिय, प्रमाणोपेत और विचारपूर्वक वचन बोलना

सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात न ब्रूयाद् प्रियं वचः।

एषणासमिति—शास्त्रमें कथन किये हुवे बैतालीस दोष-रहित आहारपानी ग्रहण करना।

आदान भण्डमत्त निक्षेपणासमिति—जब किसी वस्तुको लेने या जमीन पर रखनेकी जरूरत पडे तब जीव रहित स्थान देख प्रमार्जन कर उसे उपयोगसे ग्रहण करना या रखना।

पारिष्ठापनिकासमिति—जीव रहित भूमीमें लघुनीति तथा गुरुनीतिका करना।

मनोगुप्ति—अशुभ चिन्तनके लिये मन पर पूर्णतया अंकुश रखना या सर्वथा अशुभ मनोव्यापार बन्द रखना।

वचनगुप्ति—जिसमें दूसरेका हित न हो इस प्रकारके वचनका निरोध करना–वचन पर संयम रखना अथवा सर्वथा मौनव्रत धारण करना।

कायगुप्ति—यतना सहित शरीर व्यापार करना अथवा सर्वथा शारीरिक व्यापार—क्रिया बन्द रखना।

साधुको दो प्रकारका तप करना चाहिये। (१) बाह्यतप—उपवासादि करके खान पानका सर्वथा परित्याग करना, या कम खाना, हमेशहके खाद्य पदार्थोंमेंसे कुछ कम करना, रसवाले पदार्थ घी, दूध, दही, मिष्टान्नादिक पौष्टिक वस्तुयें विना कारण न खाना। कर्मोंसे आत्माको मुक्त करनेके लिये याने कर्मक्षय करनेके वास्ते सहनशीलता पूर्वक शरीरको कष्ट देना तथा शरीर, इन्द्रियों और मनको अप्रशस्त विषयोंसे रोक कर संयममें रखना॥

(२) अभ्यन्तर तप—अज्ञानावस्थामें किये हुये पाप—अशुभ कृत्यका गुरुके पास प्रायश्चित्त लेना, जिनेश्वर देव आदि पूजनीय दशकका यथाक्रमसे विधियुत विनय करना, पूज्य देव गुरु आदिकी शुद्धान्तःकरणसे योग्य सेवा भक्ति करना। वांचनादिक पूर्वोक्त पांच प्रकारका स्वाध्याय करना, आत्मस्वरूपका दर्शन करनेके लिये एकान्तमें ध्यान करना और बाह्य तथा अभ्यन्तर उपाधियोंका परित्याग करना।

क्रोध, मान, माया, लोभ, यथाक्रमसे प्रसंग पड़ने पर उनके बलको कम करना, तथा प्रकारका कारण उपस्थित होने-पर भी उन्हें अपने हृदयमें अवकाश न देना, एवं उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगंन्छा, इन छः दोषोंका भी परित्याग करना चाहिये। अर्थात् इन सब पर उपयोग पूर्वक संयम रखना चाहिये।

भूख प्यास आदिका सहन करना वगैरह बाईस परिषह सहना एवं मनुष्य तथा देवता कृत अनुकूल, प्रतिकूल उपसर्गोंको

समता पूर्वक सहन करना चाहिये, उस प्रसंग पर कर्मका स्वरूप ध्यानमें रख कर अपने ऊपर उपसर्ग करनेवाली—अपनेको कष्ट पहुँचानेवाली व्यक्ति पर मनमें लेश मात्र भी क्रोध या द्वेष अथवा क्लेश पैदा न होना चाहिये ।

शास्त्रकारोंने मुख्यतया चार भेद और प्रभेद सहित सोलह प्रकारके उपसर्ग फरमाये हैं—

१ देवकृत उपसर्ग—१ हास्यसे, २ द्वेषसे, ३ विमर्शसे—विचार (दृढताकी परीक्षा करनेकी भावना) से ४ पृथक् विमात्रासे—धार्मिक भिन्नताके कारण धर्मकी ईर्षासे वैक्रिय (दिव्य) शरीर धारण करके जो देवता द्वारा उपसर्ग किया जाता है सो,

२ मनुष्यकृत उपसर्ग—१ हास्यसे, २ द्वेषसे, ३ विमर्शसे, ४ कुशीलतासे—ब्रह्मचारीसे जो पुत्र होता है वह बड़ा बलवान होता है यह समझ कर धर्मभावना रहित मनुष्य ब्रह्मचर्यसे चलायमान करनेके लिये अनेक प्रकारके अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्ग करता है सो ।

तिर्यंचकृत उपसर्ग—१ भयसे (मनुष्यको देख उसके भयसे मारना करे सो) २ द्वेषसे, ३ आहारके लिये भूख लगनेसे उसे निवारण करनेके वास्ते व्याघ्र गृध्रादि पशु पक्षी अपने बच्चोंके रक्षणार्थ उपसर्ग करे सो,

४ आत्मकृत उपसर्ग—पूर्वकृत अशुभ कर्मजन्य १ वात, २ पित्त, ३ कफ, ४ और संनिपात रोग इन चार मुख्य कारणों द्वारा जो उपसर्ग उपस्थित होता है सो ।

साधु मुनिराजको अठारह हजार शीलाङ्ग धारण करना चाहिये । शीलाङ्ग क्या चीज है और वह अठारह हजार किस प्रकार हो सकता है सो समझनेकी प्रथम आवश्यकता है । तीन

योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायारम्भादिक, और दश ही श्रमणधर्म। इस प्रकार इन पैंतीसके अठारह हजार शीलाङ्ग भेद होते हैं। शीलाङ्ग यह साधु मुनिराजके–धर्मगुरुके लिये खास आवश्यकीय वस्तु है। एक प्रकारसे शीलाङ्ग ये चारित्रके अवयव हैं। अठारह हजार भेद इस प्रकार समझना चाहिये.–

तीन योग–मनोयोग, वचनयोग, शरीरयोग। तीन करण–स्वयं करना, दूसरेसे कराना, कृतकर्मकी अनुमोदना करना। चार संज्ञा–आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, परिग्रह संज्ञा, मैथुन संज्ञा। पाँच इन्द्रिय–स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय(श्रोत्रेन्द्रिय)। दश पृथ्वी

कायारम्भादिक–पृथ्वीकाय आरम्भ, अपकाय आरम्भ, तेउकाय आरम्भ, वाउकाय आरम्भ, वनस्पतिकाय आरम्भ, द्वीन्द्रिय आरम्भ, त्रीन्द्रिय आरम्भ, चतुरिन्द्रिय आरम्भ, पंचेन्द्रिय आरम्भ और अजीव आरम्भ। दश प्रकारका मुनिधर्म–क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता और ब्रह्मचर्य। इन सबमेंसे एक एक पद लेकर जुदे जुदे भेद करने चाहिये। दृष्टान्तके तौर पर प्रथम भेद नीचे लिखे मुजब किया जा सकता है–मन द्वारा आहार संज्ञा रहित होकर श्रोत्रेन्द्रियका संवर कर क्षमायुक्त रह कर पृथ्वी कायका आरम्भ न करे,, यह वाक्य कायम रख क्षमायुक्त शब्दके बदलेमें मार्दव युक्त वगैरह यथाक्रमसे दश प्रकारके मुनिधर्मको रखता जाय तब उसके दश भेद होते हैं, परन्तु यह ध्यानमें रखना कि वे सब पृथ्वीकाय सम्बन्धी ही होते हैं। इसी तरह ऊपर बतलाये हुये अपकायादि दश भेदोंके

साथ जब एक एक के दश दश भेद पूर्वोक्त रीतिसे किये जायँ तब १०० भेद होते हैं। ये सब श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा समझना चाहिये। इसी प्रकार शेष रही हुई चार इन्द्रियों द्वारा सौ. सौ भेद होने पर पाँचों इन्द्रिय द्वारा सब पांच सौ भेद होते हैं। उन्हें प्रत्येकको आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाके साथ मिलानेसे दो हजार भेद होते हैं। मन, वचन, काय के साथ लगानेसे छह हजार होते हैं और करना, कराना तथा अनुमोदन करना, इन तीनोंके मिलानेसे छह तिआ अठारह हजार भेद पूर्ण होते हैं।

इन अठारह हजार भेदोंके स्पष्टी करणके लिये श्री प्रवचन सारोद्धार, ग्रंथके ३३९ पृष्ठमें (प्रकरण रत्नाकर तीसरा भाग) एक कोष्टक दिया हुआ है उसमें यह खूबी है कि उसे नजर सामने रखनेसे अठारह हजार गाथायें सुगमतासे बन सकती हैं। विशेष जिज्ञासुओंको वह अवश्य देख लेना चाहिये, क्योंकि उपयोगी होनेके उपरान्त वह कर्त्ताकी महान विद्व-त्ताका भी परिचय कराता है।

मुमुक्षु मुनिराजको उपरोक्त आचरण करना चाहिये। परन्तु हे मुनिराज ! तू न तो स्वाध्याय करता है और न ही समिति गुप्ति पालता, तथा न ही तू यथाशक्ति तप करता, प्रत्युत जरासा कारण उपस्थित होने पर मारे क्रोध के आपेसे बाहर हो जाता है। परिषह उपसर्ग सहन करनेसे तू कोसों दूर भागता है। पूर्वोक्त अठारह हजार शीलांगसे तू सर्वथा विप-रीत आचरण करता है। तू यह भली प्रकार जानता है कि पूर्वोक्त ज्ञान ध्यानादि संयमके गुणोंमें लीन रहनेसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, तथापि तू उन गुणोंसे विपरीत आचरण कर मोक्षकी इच्छा करता है। महात्मन् ! मोक्ष नगर बडी दूर

है, वहाँ पहुँचनेके लिये तुझे संयमके गुणरूप नावके द्वारा इस संसार समुद्रसे पार होना चाहिये । तुझे याद रखना चाहिये कि वेश मात्रसे मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु मोक्ष प्राप्तिके लिये तदनुसार आचार विचार होना चाहिये ।

शास्त्रोक्त अथवा देशकालके अनुसार संयमके गुण न संपादन करने पर भी संयमी कहलाना वेश्यामें सतीत्वका आरोप करना है । शास्त्रकार कहते हैं कि तदनुसार गुण रहित रजोहरण और मुँहपत्ति अर्थात् गुणरहित मुनिवेश तो इस जीवात्माने मेरु पर्वतके समान धारण किया है तथापि अभी तक जन्म जरा मरणसे मुक्त नहीं हुआ।

वेशमात्रसे कुछ सिद्धि नहीं होती ।

आजीविकार्थमिह यद्यतिवेषमेष,
धत्से चरित्रममलं न तु कष्टभीरुः ।
तद्वेत्सि किं न न बिभेति जगज्जिघृक्षु-
र्मृत्युः कुतोपि नरकश्च न वेषमात्रात् ॥४॥

मू.० तू मात्र आजीविकाके लिये इस संसारमें यतिवेष धारण करता है परन्तु कष्टसे डरपोक हो शुद्ध चारित्र नहीं पालता, पर तुझे मालूम नहीं कि तमाम दुनियाको ग्रहण करनेकी इच्छा रखनेवाली मृत्यु और नरक कहीं किसी भी प्राणीके वेशसे नहीं डरते ॥

वि. कितनेएक अज्ञानी प्राणी संसारमें अनेक दुःखोंसे पीडित हो दुःख गर्भित वैराग्यका स्वांग धारण कर दीक्षा

ग्रहण करते हैं। दीक्षा लिये बाद भी जिन वस्तुओंके अभावसे संसारमें दुःखित थे उन्हीं वस्तुओंका ध्यान करते हैं, उन्हींका स्वप्न देखते हैं। भिक्षाका समय होने पर खानेके लालचू होनेके कारण भक्त श्रावकोंके घरोंसे अच्छी अच्छी खाद्य वस्तुयें प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। किन्तु चारित्रकी क्रिया तरफ लक्ष्य ही नहीं देते, याने प्रथम कथन किये मुजब साधुधर्ममें—साधुके आचारमें जरा भी प्रवृत्ति नहीं करते, प्रत्युत एक घर छोड कर वे एक प्रकारका नूतन संसार आरंभते हैं। कितनेक श्रीपूजनाम धारण करनेवाले तथा जो पूर्वकालमें शुद्ध साधुपनसे पतित हो गोरजीके नामसे प्रसिद्धिमें आ गये हैं, जोकि आज भी दीक्षा लेते समय क्षणभरके लिये शुद्ध साधुके ही पंच महाव्रत धारण करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं और बाद ताजिन्दगी तक उनकी ओर लक्ष्य ही नहीं देते, वे कांचन कामिनी तकसे भी अपनी आत्माको मलीन करते हैं। अर्थात् चारित्रके प्राणभूत ब्रह्मचर्य व्रतको भी भंग करते हैं। इस प्रकारके नाम मात्र महाव्रतधारीको इस अधिकारमें उपस्थित होनेका भी अधिकार नहीं है। इस प्रकारके पतित धर्मगुरु अपने अनुयायी भक्तजनोंको संसार सागरमें डबोनेके लिये पाषाणकी नावके समान हैं। कितनेयक शिथिलाचारी—आचारहीन, एकले विचरनेवाले तथा समुदायमें रह कर भी आधाकर्मी आहार लेनेवाले याने सूचना कर अपने भक्तों द्वारा अपने लिये ही कोई खाद्य पदार्थ बनवा कर खानेवाले या भक्तिरागसे मुनिके निमित्त बनाये हुये खाद्य पदार्थको जानबूझकर ग्रहण करनेवाले—इतना होने पर भी अपने आपको शुद्ध साधु समझनेवाले और परीषह उपसर्गसे डरनेवाले मुनिवेश

धारीको शास्त्रमें कष्टभीरु कहा है, और उन्हीं कष्टभीरु वेशके पडदेमें पिंड पोषण करनेवाले धर्मगुरु नामधारिओंको उद्देश कर शास्त्रकार कहते हैं कि समस्त संसारका ग्रास करनेकी इच्छावाली मृत्यु जिसके पैने दाँतोंसे बडे बडे महारथी भी न बचसके तथा उससे आगे भयंकर अन्धकारसे परिपूर्ण दुःखका स्थान, कल्पना मात्रसे ही कलेजेको कँपानेवाली नरक विद्यमान है ।• ये दोनों ही वेशकी कुछ दरकार नहीं करते । मनुष्य अनेक प्रकारकी वाकपटुतासे तथा बाह्य दृष्टिसे पूजनीय त्यागी वेशसे दुनियाको ठग सकता है, किन्तु उन दोनोंके सामने धूर्त शिरोमणि भी गुलाम और रंक बनजाते हैं । तथापि पूर्वोक्त शुद्ध आचरण करनेवाले महात्मा महापुरुष अपनी शुद्धाचरणासे उन्हें भी जीत लेते हैं । शास्त्रोक्त शुद्धाचार पालन करनेवाले महात्माओंको उन भयंकर जगतके शत्रुओंका दर्शन ही नहीं करना पडता । अर्थात वे शुद्ध संयमी जन्म जरा मृत्युसे रहित हो परमपद निर्वाणको प्राप्त कर लेते हैं । अतः आत्मस्वरूपको प्रगटानेवाले शुद्ध चारित्रको धारण कर तदनुसार प्रवृत्ति करते रहना चाहिये । साधुत्व धारण कर उसकी जबाबदारीकी ओर सदैव ध्यान रखना चाहिये । यदि साधुपनकी जवाबदारीको भूल कर अपने कर्तव्यसे परांमुख हुआ तो महात्मन ! समझ लेना कि पूर्वोक्त दोनों राक्षस तेरा पीछा न छोडेंगे ॥

केवल वेश धारण करनेवाला प्रत्युत दोषका भागी है ।

वेषेण माद्यसि यतेश्चरणं विनात्मन्,

पूजां च वाञ्छसि जनाद्बहुधे पधिं च ।

मुग्धप्रतारण भवे नरकेऽसि गन्ता,
न्यायं बिभर्षि तदजागलकर्तरीयम् ॥५॥

मू० हे आत्मन्! तू चारित्र विना मुनिके वेश मात्रसे ही मगरूर—अहंकार धारण करता है और लोगोंसे अपनी पूजा की इच्छा रखता है तथा उनसे अनेक प्रकारके वस्त्रपात्रादि उपधि—उपकरण प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है। इससे विश्वास रखनेवाले भोलेभाले मनुष्योंको ठगनेसे प्राप्त की हुई नरकमें तू अवश्य जानेवाला है, सचमुच ही तू अजागल कर्त्तरी न्याय धारण करता है।

वि० उपधि- यह एक साधुके धर्मोपकरणरूप वस्त्रपात्रादि समूह वाचक शब्द है। मुनिवेश देख कर मुनिभक्त लोग वस्त्र पात्र पुस्तक वगैरह सब कुछ देते हैं, भक्तिभावसे नम्र हो वन्दन करते हैं और अपने आपको इससे वे कृतकृत्य समझते हैं। तू यह सब कुछ इच्छता है। परन्तु तुझे स्मरण रखना चाहिये कि मुनि पदके गुण संपादन किये विना, अर्थात् जिस पद पर तू विराजमान है उसके योग्य गुण तेरे अन्दर न होने पर लोग तुझे वन्दन नमस्कार करें इस प्रकारकी इच्छा रखना और अनेक प्रकारकी उपधि प्राप्त करनेकी वांच्छा करना यह सर्वथा अनुचित है। वन्दन नमस्कार किसको घटता है? उपधिकी किस लिये आवश्यकता है? उसका हेतु क्या है? वह कोई मौज शौक उडानेका साधन नहीं है। तुझे इन सब बातों पर पूर्ण खयाल करना चाहिये। वन्दन नमस्कार मुनिगुण संपन्न महात्माको ही घटता है। उपधि यह—संयम गुणकी वृद्धिमें बाधा न पहुंचे इस लिये

पूर्व पुरुषों द्वारा योजित किया हुआ एक चारित्रका साधन है। संयम गुणोंकी वृद्धिके लिये ही उसे सेवन किया जाता है। मात्र बाह्याचार पर ही—साधन मात्र पर ही वृत्ति रखना और संयमके गुण प्राप्त करनेके लिये किंचित् कष्ट साध्य अपना वर्तन—आचार जरा भी ऊंचा न रखना यह अपने हाथसे अपना हनन करने के समान है।

जिस तरह एक कसाईने एक बकरीको जिबह करनेके लिये तैयार की और वह क्रिया करनेके लिये छुरी लेनेको गया। परन्तु छुरी न मिलनेसे वह ढूंढने लगा, दैवयोग छुरी बकरीके पास ही पड़ी थी, बकरीने छुरीको देखा और अपनी जान बचानेके हेतुसे या जातिस्वभावसे उसने उस छुरी को ढक देनेके लिये उस पर धूल डाल दी और उसे छिपानेकी बुद्धिसे उस पर गरदन रख लेट गई। ऐसा करनेसे उसी छुरी द्वारा उसका अन्त होगया। इसीको अजागलकर्तरी न्याय कहते हैं। इस तरह अपने ही हाथोंसे अपना विनाश करना यह सर्वथा अयोग्य और अनुचित वर्तन है। सिर्फ वेश मात्र साधुका रखना और वर्तन उससे विपरीत रखना इससे अपने हाथोंसे दुर्गति दुःख प्राप्त करने जैसा है। विशुद्ध संयमी भी वन्दन नमस्कार अथवा उपधि वगेरहकी वांछा तो नहीं करे परन्तु कदाचित् कार्य पड़ने पर इच्छे तो वह नीतिकी अपेक्षा अनुचित न गिना जाय। क्योंकि उसे वैसा करनेका अधिकार है। परन्तु हे नामधारी मुने ! तेरे लिये तो कोई मार्ग ही नहीं कि जिससे तेरा बचाव होसके॥

बाह्यवेश धारण करनेका फल ।

ज्ञानेऽस्ति संयम तपोभिरमीभिरात्म-
न्नस्य प्रतिग्रहभरस्य न निष्क्रयोऽपि ।
किं दुर्गतौ निपततः शरणं तवास्ते,
सौख्यञ्च दास्यसि परत्र किमित्यवेहि ॥ ६ ॥

मू० हे आत्मन् ! मेरी समझ मुजब इस प्रकारके संयम तपसे तो " गृहस्थोंके पाससे ली हुई वस्त्रपात्र भोजनादि " वस्तुओंका भाड़ा—कीमत भी पूरी नहीं होती, तो फिर दुर्गति में पड़ते हुये को तुझे शरण क्या होगा ? और परलोकमें सुख कौन देगा तूं इसका विचार कर ।

वि० ऊपर कहे मुजब बाह्याचार मात्र मुनिवेष रखनेसे और तप जप दमनादि संयमके योग्य आचरण न करनेसे अथवा जो कुछ भी थोड़ा बहुत किया जाता है वह सिर्फ बाह्या-डम्बरके ही लिये—निज मान महत्ता बढ़ानेके ही लिये करनेसे तथा ऊपरी मुनिवेश या कृत्रिम आचारसे तो गृहस्थोंके पाससे ग्रहण की हुई वस्त्रपात्र उपाधि एवं भोजनादि वस्तुओंका भी तू बदला नहीं उतार सकता । अतएव मुने ! तुझे अपने सिर-पर चढे हुए ऋणसे उऋण होनेके लिये भी अपना उच्च वर्तन रखनेकी आवश्यकता है ।

जो मनुष्य धर्मोपदेशक बननेका दावा करता हो उसके जीवनमें दो प्रकारकी झलक कदापि नहीं हो सकती । उसका जीवन ही उपदेशपूर्ण होना चाहिये । उसकी जीवन चर्याकी दूसरों पर अवश्य पवित्र असर होनी चाहिये । अन्तरमें कुछ और तथा बाहिरका बर्ताव कुछ औ-

र ही हो और उससे दुनियाकी आंखोंमें धूल डाल कर धर्मकी आडसे अपनी स्वार्थवृत्तियोंका पोषण करना, इस भावनाको क्षणभरके लिये भी मुमुक्षुके हृदयमें स्थान नहीं मिलता। उसके लिये जनता क्या अभिप्राय धारण करती है इस बातका उसे खयाल तक नहीं होता। उसे तो सिर्फ अपने उच्च कर्तव्य का ही खयाल रहता है और उस अपने उच्च कर्तव्यको वह मात्र कर्तव्यके भारसे दब कर ही नहीं किन्तु अभिरुचि-प्रेमसे पालन करता है। इस लिये इस भव तथा परभवके सुखार्थीको वेश और आचरणकी एकता करनेकी आवश्यकता है।

इन पांच श्लोकोंमें बाह्याडम्बर मुनिवेश धारण करनेवाले और तदनुसार आचरण न करनेवालेके लिये बहुत कुछ कहा गया है। श्रीपूज यति और संवेगी पक्षमें कितनेएक वेश मात्रसे जो अपनी आजीविका चला रहे हैं उन्हें इस प्रस्तुत विषयसे बहुत कुछ सीखना चाहिये। उनके सावद्य कार्योंमें सलाहकार बन कर, जंतर मन्तर द्वारा गृहस्थोंको अपने दृष्टिरागी बना कर मुग्ध प्राणियोंको धर्म के नामसे ठगनेवाले, धर्मगुरुका पद धारण कर सिरमें तेल फुलेल लगा कर भांडोंके समान बालों की मांग भरके शारीरिक सुश्रुषाके लिये अथवा अपनी मानसिक वासनाओंको संतोषित करनेके लिये अनेक प्रकारके रंग बिरंगे गिरगटके समान रूप धारण कर लोगोंमें धर्मगुरु पदकी एवं धर्मकी निन्दा करानेवाले मन्दमति पामर प्राणी संसार समुद्रमें आप तो पडते ही हैं किन्तु वे अपने गलेमें अपने आश्रितजनोंको भी डुबानेवाले पापरूप पत्थरके समान बांधते हैं। इससे उन्हें ऊंची गरदन करने तकका भी अवसर न आयगा। बहुतसी दफा तो संवेगी पक्ष जैसे शुद्ध प्रवाहमें भी कितनेएक अनुचित दि-

खाव देख पडते हैं, सुने जाते हैं। खास कर साध्वियोंके समुदायों भी कितनीएक साध्वियोंकी स्थिति पर विशेषतः ध्यान देनेकी आवश्यकता देख पडती है। सिर्फ वेष धारण करनेसे आत्माको कुछ भी लाभ नहीं बल्कि वेष धारण कर तदनुसार आचरण न करनेसे और अपने आपको उस पदका अधिकारी मान कर लोगोंको अनेक प्रकारसे ठगनेसे आत्मा बडी मलीन होती है और वैसी अशुद्धाचरणा देख अन्य मनुष्योंको भी उसके निमित्त बडी भारी हानि होती है। जिस किसीकी धर्म पर कुछ श्रद्धा हो या धर्मगुरु पर श्रद्धा हो वह सर्वथा निर्मूल हो जाती है। यद्यपि किसी समय वेश अधोमार्गमें जाते हुयेको रोकता है, अर्थात् मनकी दीवार फिसल पडने पर भी वेशकी लज्जा शारीरिक नींवको नहीं उखडने देती, तथापि जिस वेशको लोग पूज्य समझते हों, जिस वेशको धारण करने वालेसे लोग उत्तमोंत्तम आचार की आशा रखते हों, जिस वेश वा वेशधारीसे वे अपनी आत्माको कल्याणका भागी बनाना चाहते हों और जिसे संसार तारक गुरुकी मुद्रा समझते हों यदि उसमें संयम गुणोंका अभाव और संसार वर्धक दुर्गुणोंका सद्भाव देख पडता हो तो कितने खेदकी बात है यह विचार करनेसे मालूम हो सकता है।

वर्तन रहित लोकरंजन बोधिवृक्षको कुठार रूप है।

किं लोकसत्कृतिनमस्करणार्चनाद्यै,
रे मुग्ध तुष्यसि विनापि विशुद्धयोगान्।
कृन्तन् भवान्धुपतने तव यत्प्रमादो,
बोधिद्रुमाश्रय मिमानि करोति परशून्॥ ७॥

मू० तेरे त्रिकरण योग विशुद्ध न होने पर भी लोग तेरा आदर करें तुझें नमस्कार करें अथवा तेरी पुजा सेवा करें उस वक्त हे मूढ तू किस लिये संतोषित होता है? । संसार समुद्रमें पडते हुएको तुझे मात्र बोधिवृक्षका ही आधार है, उस वृक्षको काटनेमें नमस्कारादिजन्य संतोषादि प्रमाद "लोक सत्कारादिको" कुठार बनाता है ॥

वि० मानसिक अस्थिरता पर संयम प्राप्त किये विना, वाचिक संयम संपादन किये विना और कायिक योगों पर पूर्णतया अपना अधिकार जमाये विना लोगोंके किये हुए वन्दन पूजन आदि सत्कारसे तू आनन्द मनाता है यह कितनी वंचकता और दम्भता है ! इस ऋणका बदला तुझे किस प्रकार देना पडेगा इस बातका तू जरा भी खयाल नहीं करता ? मुने ! जरा विचार कर इस अनधिकारी वन्दन पूजनादि सत्कारको ग्रहण करने या इच्छनेका तुझे क्या हक है ? तुझे याद रखना चाहिये कि जो मनुष्य इस प्रकारकी कुटिल वृत्तियों द्वारा इस अपार संसार सागरमें डूबता है उसका अन्त आना—भवसागरसे पुनः बाहर निकलना बडा मुश्किल है । यदि संसार समुद्रमें निपतित प्राणीको कदाचित भाग्यवशात् संबोधिवृक्षका आलम्बन मिल जाय तो ही वह उसके द्वारा संसार समुद्रका तट प्राप्त कर सकता है । परन्तु तुझे तो इस तरफका कुछ खयाल ही नहीं है । तू रात दिन प्रमादमें ही अमूल्य समय बिता रहा है, इस शिथिलताके कारण लोगोंका किया हुआ वन्दन पूजनादि सत्कार तेरे संबोधि वृक्ष-सम्यक्त्व तरुको निर्मूल करनेमें कुहाडेका काम करता है । इस बोधिवृक्षका नाश होने पर—पुनः इसकी

प्राप्ति न होने पर संसार सागरसे पार होना असम्भव है। अनन्त काल पर्यन्त तुझे इस दुस्तर अपार संसार समुद्र की जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, उपाधि, व्याधिरूप तरंगोंके झकोरे खाने पडेंगे और उससे वचनातीत दुःख सहना पडेगा।

इस शुद्ध वेशके कारण तुझ पर कितनी जिम्मेदारियाँ बढती हैं इस बातका खयाल कर। इस तेरे विशुद्ध वेशंसे तेरी प्रतिज्ञानुसार लोग तुझसे कितने उच्च आचार-वर्तनकी आशा रखते हैं जरा इस बातका विचार कर। मुने! जरा अपने अभ्यन्तर विवेक चक्षु द्वारा देख, इस प्रकारका संयोग, इस प्रकारकी आत्मोद्धारक सामग्री तुझे वारंवार न मिलेगी। याद रख तुझे धूल धोते हुये यह संयम मार्ग एक अमूल्य रत्न मिल गया है। इसका सदुपयोग कर तू अनन्त सुख प्राप्तिकी कीमत उपार्जन कर सकता है। अतएव तुझे अपने पदके तथा इस पदको अंगीकार करते समय अपनी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार इस सर्व सामग्रीका सदुपयोग उच्चाचरण करना चाहिये।

इस श्लोकके भावार्थसे मुनिका अधिकार होने पर भी श्रावक वर्गको भी बहुत कुछ बोध लेनेका है, पीला तिलक मस्तक पर लगा कर श्रावकपनका डौल रख तथाप्रकारके गुण न होने पर धमाचौकडी मचा कर नौकारसी-सार्धर्मी वात्सल्य वगैरहमें बिना अधिकार मालमसाले उडाना, अनेक प्रकारकी प्रभावनायें हक बगैर अनीतिसे एक दफाके बदले अनेक दफा लेनेकी तुच्छता धारण कर अपने आपको उसका हकदार मानना यह सब कुछ सर्वथा अनुचित है। इस लिये श्रावक नामधारीको भी अपने आत्महितके लिये इस अधिकारसे यथोचित बोध ग्रहण करना चाहिये।

लोक सत्कारका हेतु, गुणरहित गति,

गुणांस्तवाश्रित्य नमन्त्यमी जना,

ददत्युपध्यालय भैक्ष्याशिष्यकान्।

विना गुणान् वेषमृषे र्बिभर्षि चेत्

ततष्ठगानां तव भाविनी गतिः ॥ ८ ॥

मू० लोक तेरे गुणोंका आश्रय ले तुझे नमते हैं, उपधि, उपाश्रय, आहार और शिष्य वगैरह तुझे देते हैं। अब यदि तू विनागुण ऋषि—मुनीका वेश धारण करता होगा तो ठगोंके समान ही तेरी गति होगी।

वि० मुने! तेरे भक्त सेवक तुझे अच्छेसे अच्छे वस्त्र प्रदान करते हैं। गरमीकी ऋतुमें शरबती बारीकमें बारीक मलमलके थान देते हैं, जाड़ेकी ऋतुमें विलायतमें भी नहीं बन सकते इस प्रकारके बढिया काश्मीरी गरम दुष्य जो कीमतमें भारी और वजनमें हलके तुझे भक्ति पुरस्सर देते हैं। अपने घरमें जब कभी श्रेष्ठमें श्रेष्ठ खाद्य पदार्थ बनावें तो तुझे प्रथम आमंत्रण देते हैं, तुझे देकर ही वे मुमुक्षु बुद्धिवाले गृहस्थ अपने उस भोजनको पवित्र और सफल समझते हैं। आप भले टूटे फूटे मकानोंमें या खपरेलके छप्परोंमें रहते हों किन्तु तेरे रहनेके लिये वे चंदा करके भी राजमहलके समान सुन्दर उपाश्रय बनवाते हैं और अन्तमें अपने प्राणोंसे प्यारी अपनी सन्तानको शिष्य बनानेके लिये तुझे समर्पण करते हैं। तुझे विचार करना चाहिये कि तेरे साथ उनका क्या सम्बन्ध है कि जिसके कारण पसीना और खून एक होकर पैदा होने-

वाली अपनी संपत्तिका भोग वे तुझे प्रेमपूर्वक दे रहे हैं? तेरे अन्दर साधुत्व है, तुझमें साधुके सत्ताईस गुण हैं, दश प्रकारका साधु धर्म तेरे अन्दर है यह समझ कर ही वे तुझे सर्व प्रकारसे संतोषित रखते हैं। संसारकी वासनाओं तथा आधि व्याधि उपाधिसे संतप्त उनके हृदयको शान्त करनेमें तू गुणाढ्य होनेके कारण सहायक होगा इसी हेतुसे वे तेरा पोषण करते हैं। तूने सर्व खाद्य पदार्थोंपर संयम प्राप्त किया है, लड्डू और पेडे सत्तु और बाजरेके सुखे टुकडोंमें रतिअरति—रुचि अरुचि धारण न करके मात्र धर्मके साधनभूत शरीरको टिका रखनेके हेतुसे ही तू पेट पोषण करता है, और जिस तरह तूने इस रसना इंद्रियकी गृद्धिको जीता है उसी तरह अपने भक्तों—सेवकोंको भी तू उस संयम मार्गमें लावेगा यह समझ कर ही वे तुझे अनेक प्रकारके श्रेष्ठ खाद्य पदार्थ जुटाते हैं। तुझे वसति या जंगलमें रहना समान है, महल और झोंपडीमें तेरी समान बुद्धि है और इसी प्रकार तू अपने भक्तोंको भी इस विनश्वर संसारी स्थावर मिलकतके मोहसे पराङ्मुख कर उन्हें आत्मस्वरूपकी ओर झुकावेगा यह समझ कर वे तुझे रहनेके लिये गगनचुम्बी राजमहलोंके समान भव्य उपाश्रय देते हैं। तूने शीत और उष्ण कालीन परिसहोंको जीता है, वस्त्र मात्र पर तुझे किसी प्रकारका मोह ममत्व नहीं है, मात्र शरीरको ढकनेके लिये ही तू वस्त्र धारण करता है और इसी प्रकार अपने भक्तोंका भी वस्त्रसम्बन्धि मोह तू कम करावेगा यह समझ कर ही वे तुझे अनेक प्रकारके कीमती वस्त्र देते हैं। यदि यह पूर्वोक्त भावना और गुण तेरे जीवनमें नहीं हैं तो तुझे दम्भी, वंचक और स्वार्थ-

पोषीकी उपमा दी जासकती है। ऐसा होने पर तेरे जीवनका फल भी तुझे वही मिल सकता है जो दम्भी और परवंचकको मिलता है।

पूर्वोक्त दो श्लोकोंमें अपनी आत्मध्वनिके विरुद्ध लोकरंजनसे हट कर शुद्ध मुनिपनके गुण ग्रहण करनेका हितोपदेश दिया गया है। दम्भ द्वारा बाह्याडम्बरसे सरल हृदयवाले भोले भाले लोगोंमें प्रतिष्ठा जमा कर, तथाप्रकारके गुणोंकी गन्ध तक भी अपने अन्दर न होने पर संघनायक आचार्य—उपाध्याय, पंन्यास, गणी अथवा और भी अनेक प्रकारकी मनमानी लम्बी लम्बी पूंछें लगा अपने आपको युगप्रधानके समान मान कर सरल मुमुक्षुओंकी आंखोंमें धूल डालकर अपनी स्वार्थसिद्धि सिद्ध करनेवाले वेशधारी महात्माओंको खास विचार करना चाहिये कि यह दम्भ यह वंचकता यह स्वार्थ पोषणता कितने दिनके और किसके लिये करते हैं। ऐसा करनेवाले वास्तवमें वे अपनी आत्माको ही ठगते हैं। वे जिस आत्मोद्धारके आदर्शको प्राप्त करनेके लिये घरबार छोड़ कर त्याग मार्गमें चले हैं अपनी दम्भभरी आचरणाओंके कारण उस आदर्शको मलीन कर रहे हैं इतना ही नहीं बल्कि उससे कोसों दूर भाग रहे हैं। उनके ये बाह्य स्वार्थवृत्ति रूप मीठे दुर्गुण उनके संबोधि वृक्षको जड मूलसे काट रहे हैं। ये मीठे दुर्गुण मनुष्यका वास्तविक कर्तव्य क्या है उसे यह मालूम ही नहीं होने देते। इस लिये प्रथम अपने भीतर रही हुई नीच वृत्तियों पर अधिकार जमाना चाहिये। साधु मुनिराजका कर्तव्य केवल लोगोंको खुश करनेका ही नहीं किन्तु आप विशुद्ध मार्गमें चलते हुये दुनियाको उसमें

लानेका है। धर्मोपदेश या धर्मगुरु पदका दावा करके एकान्तमें कुकर्म करें, जिन वस्तुओंका चतुर्विध संघ समक्ष परित्याग किया हो उन्हींको धर्मक्रियाओंकी आडमें सेवन करें और संघके सामने जो कर्तव्य पालन करनेकी प्रतिज्ञा ली हो उस तरफ लक्ष्य न रख कर उससे सर्वथा विपरीत ही आचरण करें वैसे धर्मोपदेशक या धर्मगुरु नामधारियोंको तो अन्तमें उनके वे गुप्तकुकर्म ही शिक्षा देंगे। उनके लिये अधोगतिका मार्ग खुला है। किन्तु सच्चा साधुनाम धारण करनेवाला आत्मार्थी मुनिराज तो खराब विचारको अपने पवित्र हृदयमन्दिरमें भी प्रवेश तक नहीं करने देता फिर शारीरिक खराब आचरण तो उससे होवे ही कैसे? जिसका विचार शुद्ध है उसका आचार अवश्य शुद्ध ही होगा। बस उसीका नाम साधु है, वही सच्चा मुनिराज है। बाकी जिस प्रकार यतिका जति और गुरुजीका गोरजी तथा गुरनीजीका गैणी बन गया है उसी प्रकार शब्दापभ्रंसके समान आज आचारमें भी अपभ्रंस देख पड़ता है। यदि महावीरभक्त कोई देव समाजमें शुद्ध पवनका संचार करे तो मूलाचारकी कदर हो सकती है।

लोकरंजनसे उभय लोकमें क्या सिद्धि? कुछ समयके लिये लोग बोलते हैं कि अमुक मुनिराज बड़े अच्छे हैं। परन्तु उनके इस सर्टिफिकटसे मुनिराजको क्या प्राप्ति हुई? क्या उनके कह देनेसे वह सचमुच ही अच्छा बन गया? क्या उनके उस प्रमाणपत्रसे मुनिराजकी आत्मशुद्धि होगई? नहीं कदापि नहीं। जहाँ पर सुख दुख, आत्मविकास और आत्ममलीनताका आधार अपने अन्तःकरणकी भावनाजन्य-

कर्म बन्ध पर अवलम्बित है वहाँ पर बाह्यदृष्टिकी कीर्त्त मात्र विना अङ्कके शून्य (बिंदी) समान है। श्री मल्लिनाथ स्वामीके स्तवनमें श्री यशोविजय उपाध्यायजी लोक रंजन और लोकोत्तर रंजनकी तुलना करते हुये लोकोत्तर रंजन को प्रधान पद देते हैं। इस लिये अनन्त कालचक्रात्मक संसार समुद्रमें परिभ्रमण करनेवाले महात्मन्! इस शुद्धसाधु मार्गरूप जहाज पर चढे हुयेको तुझे इस लोकप्रशंसा रूप प्रचण्ड पवनसे अपनी आत्माका रक्षण करनेकी परमावश्यकता है। यदि इस प्रचण्ड पवनसे तू पुनः संसार समुद्रमें पड़ गया तो फिर पता लगना मुश्किल है अतः तुझे सँभल कर अपना मार्ग तय करना चाहिये ॥

साधुधनका सुख और कर्तव्य।

नाजीविका प्रणयिनी तनयादि चिन्ता,
नो राजभीश्च भगवत्समयं च वेत्सि।
शुद्धे तथापि चरणे यतसे न भिक्षो,
तत्ते परिग्रहभरो नरकार्थमेव ॥ ९ ॥

मू० तुझे आजीविका, स्त्री, पुत्रादिकी चिन्ता नहीं, राज्यकी ओरसे भीति नहीं और भगवानके सिद्धान्तोंको तू जानता है, अथवा सिद्धांतके पुस्तक तेरे पास हैं, तथापि हे मुने! यदि तू शुद्ध चारित्र पालनेके लिये प्रयत्न न करेगा तो फिर तेरे पासकी वस्तुओंका भार नरकके लिये ही है ॥

वि० मुने तुझे विचार करना चाहिये कि इस स्पर्धावाले विषम संसारमें आज महाकष्ट सह कर आजीविकाके लिये पैसा पैदा किया जाता है, परन्तु तुझे तो संसारसे किनारा

करनेके कारण इस बातकी कोई चिन्ता नहीं, स्त्रीके वास्ते साड़ी, चोली या गहने आदिकी चिन्ता तुझे नहीं, लड़के लड़कियोंके भरण पोषण या उनके ब्याह सगाईकी तुझे चिन्ता नहीं, किसीको देने या किससे लेनेकी चिन्ता तुझे नहीं, तेरे पास धन न होनेके कारण तुझे यह भी चिन्ता नहीं कि तेरा धन किसी राजा आदिसे लुट जायगा और धन अपने पास न रखने अथवा अपनी मालकीयतका धन किसीके पास भी न रखने रखानेकी प्रतिज्ञा की हुई होने के कारण तुझे यह भी चिन्ता नहीं है कि उस धनका रक्षण कैसे होगा। निदान इस उलझन भरे संसारमें अपने जीवन निर्वाह सम्बन्धी या अपने सम्बन्धियोंके जीवन निर्वाह सम्बन्धी तुझे किसी भी प्रकारकी चिन्ता फिकर नहीं, अतएव तू इस चिन्तामय संसारमें राजाओंका भी महाराजा है।

इसके उपरान्त तू ज्ञानवान् है, समझदार है, शास्त्रवेत्ता है और शास्त्रोंका मर्मज्ञ है, सर्वज्ञ प्रभु कथित सर्व देश कालमें अनुकूलता धारण करनेवाले अबाधित शुद्ध सिद्धान्तके रहस्य को भी तू यथाशक्ति खूब समझता है। किन्तु तुझे यह बात बराबर स्मरण रखनी चाहिये कि जिस आदर्श (चारित्र) के कारण तू यह सर्व प्रकारका ऐश्वर्य गौरव भोग रहा है उसकी तरफ लक्ष न रखनेसे—उसका पालन बराबर न करनेसे यह उच्च गतिमें लेजानेवाला और आत्मीय गुणोंका विकास करनेवाला आदर्श ही तुझे उस दुर्गतिमें पटकेगा जहाँ पर करोडों शताब्दियाँ तक महा पीडा भोगने पर भी तेरा छुटका न होसके। अर्थात् जिस आदर्शको सिद्ध करनेके बहानेसे लोगोंसे तू अनेक प्रकारके श्रेष्ठसे श्रेष्ठ खाद्य पदार्थ, अच्छेसे

अच्छे वस्त्र, बढ़ियासे बढ़िया काश्मीरी और विदेशी शालें, हजारों रुपयेके पुस्तक, सैकड़ो रुपयेके कपाट एवं शिष्य शिष्या वगैरह संपादन कर अपनी बाह्यस्वार्थवृत्तिको पोष रहा है, उस पर उपेक्षा धारण कर मात्र इहलौकिक गौरव वृत्तिमें ही रत रहनेके कारण तुझे नरकादि दुर्गतियोंमें जन्म धारण कर घोरातिघोर दुःखोंको सहना पड़ेगा।

यह बात हम प्रथम ही कह चुके हैं कि इस अधिकारमें उन मुनिनामधारियोंके लिये स्थान नहीं है जो मात्र नाम ही मुनियोंकासा रखते हैं और मुनिके आचार विचारको खूँटी पर टांग रखते हैं एवं जो अपनी आजीविकाके ही हेतुसे—श्रावकोंकी मिलकत पर तागड धिन्ना करनेके हेतुसे जनताके समक्ष दो घडीके लिये मुनिका वेश धारण कर मुनिव्रत पालनेकी आजन्मकी प्रतिज्ञा कर उस प्रतिज्ञाको उसी दिन पानीमें घोल कर पी जाते हैं और आमरण जिनका व्यसनोंमें ही जीवन पूर्ण होता है। किन्तु जो मुनिव्रतकी प्रतिज्ञा पालनका दावा करते हैं और जो मुनिके बाह्याचारमें बड़ी कुशलतासे वर्तते हैं पर मानसिक निर्बलताके कारण जिनके विचार उच्चार और आचारमें समानता नहीं होती और जो बाह्य लालचोंके वश होकर लोगोंकी आँखोंमें धूल डाल कर गुप्ततया.अपनी आत्मध्वनिके विरुद्ध अपने विशुद्धादर्शका खून करते हैं, उन्हीं मुनियोंके लिये यह साधुशिक्षा निर्मित की गई है॥

ज्ञानी मुनिको, प्रमादवश होनेके दो कारण,

शास्त्रज्ञोपि धृतव्रतोपि गृहिणीपुत्रादिबन्धनोज्झितो,—
ऽप्यङ्गी यद्यतते प्रमादवशगो न प्रेत्य सौख्यश्रिये,

तन्मोहद्विषतस्त्रिलोकजयिनः काचित्परा दुष्टता,
बद्धायुष्कतया स वा नरपशुर्नूनं गमी दुर्गतौ ॥१०॥

मू० शास्त्रका जानकार हो, व्रत ग्रहण किये हुवे हों तथा स्त्री पुत्रादिके बन्धनसे भी रहित हो तथापि प्रमादवश होकर पारलौकिक सुखरूप लक्ष्मीके लिये प्राणी कुछ प्रयत्न नहीं करता, इसमें तीन लोकको जीतनेवाले मोह नामक शत्रुकी कोई अवाच्य दुष्टता कारणभूत होनी चाहिये अथवा वह नरपशु प्रथमसे आयुष्य बाँध लेनेके कारण अवश्य दुर्गतिमें जानेवाला होना चाहिये ॥

वि० उपरोक्त श्लोकमें कथन किये मुजब हे मुने ! तुझे आत्मविकास करने और परोपकार करनेकी जितनी अनुकूलतायें हैं इतनी अन्य किसीको नहीं हैं। संसारमें स्त्री पुत्रादिकी मोहजालमें फसे हुये तथा कुटुम्बके भरण पोषणकी चिन्तामें पड़े हुये एवं अनेक प्रकारकी सांसारिक आधि व्याधि उपाधिमें संतप्त हृदय रहनेवाले संसारी प्राणियोंको उनकी सांसारिक झंझटोंसे दो घड़ीका समय भी शान्तिलाभ करनेके लिये नहीं मिलता, तब फिर आत्मकल्याण करनेका तो अवकाश ही कहां? इस लिये संसारके सर्व साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा आत्मकल्याण करनेके लिये तेरी स्थिति अच्छी है। तुझे आत्मविकासके सर्व संयोग अनुकूल प्राप्त हुये हैं। तू अपने हितावह मार्गको जाननेमें समर्थ है, स्व और पर हित करनेका व्रत भी तूने धारण किया हुआ है तथा अनेक प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे भी तू विमुक्त है, इत्यादि अनुकूलता होने पर भी

यदि तू अपने कर्तव्य पालनसे मुँह चुराता है और जिन्हें वश करना चाहिये था स्वयं उन इन्द्रियोंके वश हो जिधर वे घसीटती हैं उधर ही फिसल पडता है, तेरी ऐसी स्थितिसे मालूम होता है कि संसारके प्राणधारियोंको प्रमाद मदिराकी एक चुल्लूमें उल्लू बना कर उन्हें अपनी इच्छानुसार नाच नाचनेवाले जगज्जयी मोह राजाने तुझे भी अपने पाशमें फसा लिया है। तुझे यह बात न भूलना चाहिये कि यह मोह महासुभट संसारके तमाम प्राणियोंको अपने दुःखमय साम्राज्यकी छत्र छायामें रखनेके प्रयत्नमें बडा ही सावधान रहता है। इसके अधिकारसे बाहर जानेवाले पर यह अपनी तमाम शक्तियोंका बल खर्च करता है। परन्तु यह भी स्मरण रखना कि जो महावीर महापराक्रमी इस एक ही दुष्टको जीत लेता है वह अवश्य त्रिभुवनका विजेता होता है।

इस दशवें श्लोकमें जो दो कारण बतलाये हैं वास्तवमें बात एककी एक ही है। मोह विवश हो मनुष्य इंद्रिय दमन तथा आत्मसंयम करनेमें असमर्थ होजाता है। उससे प्रशस्त प्रवृत्ति के बदले अप्रशस्त प्रवृत्ति ही विशेष हुआ करती है। जिस मनुष्यका हृदय कमजोर होता है वह परिस्थिति एवं संयोगोंका गुलाम बन जाता है, किन्तु जिसका हृदय सबल होता है वह प्रतिकूल परिस्थिति तथा संयोगोंको अपनी साध्यसिद्धिके अनुकूल बना कर उन पर स्वामित्व भोगता है। अर्थात् वह विषम संयोगोंको भी अपने अपूर्व वीर्योल्लास द्वारा इस प्रकारके अनुकूल बना लेता है कि जिनसे भविष्यके लिये अशुभ कर्मोंकी संतति पैदा ही न होसके, बल्कि यदि निर्जराके उपरान्त कर्मबन्ध हो भी तो वह शुभ ही होता है कि जिसके

उदय भावमें अशुभ प्रवृत्ति या अशुभ विचार तक न उत्पन्न होसके। इस लिये पवित्रात्मा मुनि, ऋषि, साधु, संन्यासीको मोह ममत्व एवं 'मैं' पनका परित्याग कर सदैव अपने साध्य को सिद्ध करनेमें तत्पर रहना चाहिये ॥

सावद्याचारमें मृषोक्ति दोष,

उच्चारयस्यनुदिनं न करोमि सर्वं,
सावद्यमित्यसकृदेतदथो करोषि ।
नित्यं मृषोक्ति जिनवञ्चन भारिताचत्,
सावद्यतो नरकमेव विभावय ते ॥ ११ ॥

मू० तू सदैव रातदिनमें नव दफा करेमि भन्तेका पाठ पढ़ते हुये बोलता है कि मैं सर्वथा सावद्य (पापसहित) काम न करूंगा और फिर पुनः पुनः वही काम किया करता है। ये सावद्य कर्म कर मिथ्या भाषी होनेके कारण तू प्रभुको भी ठगनेवाला है और मैं समझता हूं कि उस पापके भारसे भारी हुये तेरे लिये तो नरक ही तैयार है ॥

वि० करेमि भंते सामाइअं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं इत्यादि । याने सारे जीवनमें मानसिक, वाचिक और कायिक सर्व सावद्य स्वयं न करूंगा, दूसरोंसे न कराऊंगा और न ही करनेवालोंको मैं अच्छा समझूँगा । इस प्रकारकी प्रतिज्ञा प्रतिदिन प्रतिक्रमणमें एवं पोरसीके समय कई दफा करता है, किन्तु इस प्रतिज्ञाके अनुसार आचारमें तो तू इससे विपरीत ही कर रहा है । बोलना कुछ और करना कुछ और यह तेरे लिये

तो सर्वथा ही अयोग्य है, क्योंकि तूने दम्भका परित्याग कर बाह्याभ्यन्तर एकतानुसार शुभ प्रवृत्ति करनेकी प्रतिज्ञा की हुई है। ऐसा करनेसे तू द्विगुणा भारी होता है। सावद्य कर्म करनेसे तुझे अशुभकर्म(पाप) बन्ध होता है और असत्य बोलने के कारण भी तुझे अशुभ कर्मसे भारी होना पडता है। तुझे चाहिये कि अपने कथनानुसार आचार रक्खे। तुझे यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ पर मन वचन कायकी त्रिपुटी तीन रास्ते पकड़ती है वहाँ पर दुःखका समुद्र उछलता है, भावि विपत्तियोंकी घनघटायें उमड़ती हैं और घोरातिघोर संकटोंकी जालें बिछी हुई हैं। अर्थात् बाह्य दिखाव–उपदेश जुदे प्रकारका करना और आचार–वर्ताव जुदे प्रकारका करना, यह भयंकर पाप है और ऐसा करनेसे परभवमें अनेक प्रकारकी मानसिक उपाधियोंके उपरान्त नरक आदि महाभयंकर शारीरिक पीड़ायें भोगनी पड़ती हैं और इस भवमें भी उसे अपनी पोल–खराब आचरणाको ऊपरी प्रशस्त आचरणाओं द्वारा दबा रखनेके लिये अनेक प्रकारके प्रपंची प्रयत्न करते हुये भी रात दिन अपनी उस खराब आचरणाका पडदा उठ जानेकी चिन्ता जन्य दुःख संततिका अनुभव करना पड़ता है। महा पुरुषोंका कथन है–

> यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रियाः।
> चित्ते वाचि क्रियायां च, साधूनामेकरूपता॥

अर्थात् साधुओंके विचार, उच्चार और आचारमें एकता होती है। मानसिक वाचिक और शारीरिक प्रवृत्ति जिनकी एकसी ही होती है वे ही साधु कहलाते हैं और जिनमें इस महान् गुणका अभाव हो और यदि वे सच्चे साधुपनका दावा

करें तो वह व्यर्थ है। मानसिक दुर्बलताके कारण जितने अंशसें अपने भीतर भूलें भरी हों उन्हें सच्चे सरल दिलसे कबूल करना और उन्हें सुधारनेका प्रयत्न करना यह भी सच्ची साधुता है। परन्तु सर्वज्ञके सिद्धान्तानुसार जनताके समक्ष की हुई प्रतिज्ञासे विपरीत आचरण करनेमें तो अपनी आत्मा ही साक्षी है, अपनी आत्मीय ध्वनिके विरुद्धाचरण कर अनेक प्रकारके बाह्याडम्बरोंसे उस पर पड़दा डालना, उसे ढकना और अपने आपको जनतामें सच्चा साधु ख्यापन करना यह मृषोक्ति नहीं तो और क्या कहा जाय ? ॥

मुनिके सावद्याचरणसे परवंचकताका दोष।

वेषोपदेशाद्युपधि प्रतारिता,
दुदत्यभीष्टानृजवोऽधुना जनाः
भुंक्षे च शेषे च सुखं विचेष्टसे,
भवान्तरे ज्ञास्यसि तत्फलं पुनः ॥ १२ ॥

मू० वेश, उपदेश और उपधिसे ठगे गये हुये सरल लोग अभी तो तुझे इच्छित वस्तु देते हैं, तू सुखसे खाता है सोता है और फिरता है परन्तु इसका फल तू भवान्तरमें जानेगा॥

वि० चौथे तथा पांचवें श्लोकमें यह विषय चर्चा गया है। महात्मन्! सरल हृदयवाले भद्रमनुष्य तुझे गुणाधिक समझ कर, संयमी समझ कर आप न खा सकें इस प्रकारकी अच्छी-से अच्छी खानेकी वस्तुयें तुझे देते हैं एवं तेरे उपयोगमें आनेवाली अनेक प्रकारकी तमाम चीजें देते हैं, मगर तू उन वस्तुओंका दुरुपयोग करता है। यदि साधुपनके योग्य तेरा आचार-वर्तन न हो तो उन वस्तुओं पर तेरा कोई अधिकार

या हक नहीं। यदि विना हक तू उन वस्तुओंको ग्रहण करेगा तो याद रख भवान्तरमें किसी न किसी प्रकारसे तुझे उसका बदला अवश्य देना पड़ेगा। यह तो तू समझता ही है कि कपट करनेवाले मनुष्यको भवान्तरमें सिवा दुर्गतिके अन्य कोई स्थान नहीं। भवान्तरमें ही उसे दुर्गतिजन्य दुःख भोगना पडता है इतना ही नहीं किन्तु इस भवमें भी उसे अनेक प्रकारकी कष्ट जनक उपाधिमें जीवन बिताना पड़ता है। उसे अपना असत्य डौंल सहीसलामत रखनेके लिये अनेक प्रकारके जागडौंल रचने पड़ते हैं। असत्य बोलना पड़ता है, दूसरोंकी चापलोसी—खुशामद करनी पड़ती है, दूसरोंकी हां में हां मिलानी पडती है और इतना सब कुछ करने पर भी उसे रातदिन अपना दम्भ खुला पड जानेके भयमें ही चिन्तित रहना पडता है।

इस उपरोक्त श्लोकमें कहे गये विषय पर महामहोपाध्याय श्रीमान् यशोविजयजी महाराज स्वल्पाक्षरोंमें फरमाते हैं "जो झूंठा उपदेश करता है, लोक रंजनार्थ वेश धारण करता है उसका धर्मार्थ सेवन किया हुआ तमाम कष्टानुष्ठान व्यर्थ—निष्फल है"। इससे यहाँ पर यह बात लक्ष्यमें रखनेकी है कि उपदेश और आचरणमें भिन्नता रखना इसीका नाम माया-मृषावाद है। आगे चलकर प्रसंगोपात इस विषयका स्पष्टीकरण किया जायगा॥

'संयममें यत्न न करनेवालेको हितबोध'

आजीविकादि विविधार्त्ति भृशानिशार्ताः,

कृच्छ्रेण केऽपि महतैव सृजन्ति धर्मान्।

तेभ्योपि निर्दय जिघृक्षसि सर्वमिष्टं,
नो संयमे च यतसे भविता कथं ही ॥ १३ ॥

मू० आजीविका चलाना आदि अनेक प्रकारकी पीडाओंसे रातदिन बहुत हैरान होते हुये कितने एक गृहस्थ बड़ी मुश्किलसे धर्मकृत्य करते हैं। उनसे भी हे दयाहीन साधु ! तू तेरी सर्व इष्ट वस्तुयें प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है और संयममें प्रयत्न करता नहीं तो फिर तेरी क्या दशा होगी ?

वि० जिस प्रकार तमाम वस्त्र उतार कर मात्र एक धोती पहने नदी उतरनेवाला मनुष्य अल्प नंगा न होने पर भी वह नंगा कहा जाता है उसी प्रकार दयाका भंडार साधु मुनिराज भी अपने अधिकारके प्रमाणसे बहुत कम दया होते हुये भी दयाहीन कहा जाता है। क्योंकि सर्व साधारण गृहस्थ जनोंकी अपेक्षा धर्मगुरुका दावा रखनेवाले साधु मुनिराजमें विशेषतः सद्गुणोंका सद्भाव होना चाहिये। बिचारे भद्रिक भाववाले साधारण स्थितिके गृहस्थ इस विषम परिस्थितिवाले जमानेमें बड़ी मुस्किलसे अपने कुटुम्बका भरण पोषण करते हैं, तथापि वे धार्मिक श्रद्धासे जकड़े हुये होनेके कारण उस अपनी साधारण स्थितिमें भी साधु महाराजको देख अपने घरकी अच्छेसे अच्छी वस्त्र पात्रादि वस्तु देनेमें जरा भी आनाकानी नहीं करते। उसमें भी जैन संप्रदायमें तो साधुओंके प्रति इस प्रकारकी श्रद्धाभक्ति है कि जैनोंकी चाहे जैसी गरीब–साधारण स्थिति हो किन्तु जब तक उनके घरमें बरतन तक भी रहेंगे तब तक वे उन्हें बेच कर अपने बच्चोंको भी न देकर पहले अपने धर्मगुरु साधु मुनिराजको प्रोत्साह

पूर्वक देनेमें जरा भी न हिचकिचायेंगे। ऐसी तंग दशामें दूसरोंकी सेवा करना आदि अनेक प्रकारके कष्टों द्वारा प्राप्त की हुई वस्तुयें बिचारे श्रद्धालु भक्तोंके पाससे लेकर अपने जीवनको सुखद स्थितिमें रखनेका प्रयत्न करता है, परन्तु अपना कर्तव्य पालन करनेमें तू जी चुराता है। न तो तू इन्द्रियों पर ही संयम रखता है न मन पर और न ही जिन्दगी पर्यन्त की हुई अपनी पांच प्रतिज्ञाओं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को निरतिचार पालन करनेका प्रयत्न करता है। इस लिये महात्मन! तू जरा इस बातका तो विचार कर कि कर्तव्य न करनेसे और अकरणीय के करनेसे क्या परिणाम उपस्थित होगा? यद्यपि तू तेरे इन आडम्बर पूर्ण दम्भि आचरणों द्वारा श्रद्धालु धर्मनिष्ठ गृहस्थोंको ठग सकता है तथापि सर्वज्ञ प्रभुको तो किसी प्रकार भी नहीं ठग सकता। लौकिक कहावत है कि दूध पीनेकी तीव्र इच्छा रखनेवाली बिचारी बिल्ली जहाँ तहाँ दूधको ही देखती है किन्तु पीछेसे कमर पर पड़नेवाले डण्डेको नहीं देखती। बस वही दशा तेरी देख पड़ती है, परन्तु अपने स्वामीका कार्य कर, अपना कर्तव्य पालन कर सूखी रोटियोंमें भी कितना स्वाद-माधुर्य रहा हुआ है, कर्तव्य बजाते हुये भुने हुये मुट्ठी भर चने खाकर ठंडा पानी पीनेमें कितनी मधुरता और कितना स्वाद है इसका भी तू अनुभव करना या किसी अनुभवी व्यक्तिसे जानना। तेरा क्या कर्तव्य है इस बातका तुझे खयाल करना चाहिये। विशेषतः दुनियाके तमाम प्राणधारिओंके प्रति तेरा क्या कर्तव्य है इस बातका विचार कर।

कितनीएक दफा साधु लड़नको कलंकित करे इस प्रकारका बर्ताव साधुवेश धारियोंमें देख पड़ता है। जनसमक्ष की

हुई पूर्वोक्त पंच महाव्रत पालनकी प्रतिज्ञा भंग होती देखनेमें आती है, जिन, क्रोध, मान, माया—कपट, लोभ, ईर्ष्या, द्वेषादि महादुर्गुणोंके परित्यागका उपदेश करनेका अधिकार विशेषतः उनसे दूर रहनेके कारण धर्मगुरुओं—साधु महाराजाओंको ही है उन्हीं दुर्गुणोंके वश होकर न लिखे जायँ इस प्रकारके हलके कृत्य किये जाते देख पड़ते हैं। क्रोधके आवेशमें भाषासमितिका खून करनेवाले और एक ही शब्दमें दूसरेके हृदयको मसोस डालनेवाले मार्मिक वचन बोले जाते हैं। ईर्षा—असहिष्णुताके कारण दूसरे महापुरुषों—गुणवानोंकी कीर्तिको दूषित करनेका भरसक प्रयत्न किया जाता है। मान—अभिमानमें आकर अपनेसे सहस्र गुणाधिक गुणवान और विद्वानको अभिवन्दन तक भी नहीं किया जाता, मायाके वश होकर अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिये या अपने दुर्गुणोंको ढकनेके लिये दम्भसे हृदयगत भावनासे विपरीत कथन किया जाता है और लोभके विवश होकर बहुमूल्य वस्त्र, हजारों और लाखों रुपयेके पुस्तकोंके भण्डार अपने नामसे संग्रह किये जाते हैं। बस इसीसे साधु असाधु पनकी भावना मालूम हो जाती है। दुनियाकी स्थूल मर्यादासे ऊंची सपाटी पर चलनेवाले महात्मन्! यह सब कुछ अलीक वर्तन संसार कान्तारमें अनन्त काल तक परिभ्रमण करानेवाला है। इस प्रकारके वर्तनमें सर्वथा हानि है। तेरे इन कपड़ोंसे मोक्ष न मिलेगा, किन्तु जब तू अपने मन पर संयम रख कर साधु लाइनके योग्याचार विचार और उच्चारमें एक रंग लगायगा तभी आत्मकल्याण होगा अन्यथा दम्भबुद्धिसे वेश धारण किया हुआ मात्र एक नाटकके पात्रके समान है॥

निर्गुण मुनिको कुछ लाभ नहीं,

आराधितो वा गुणवान् स्वयं तरन्,
भवाब्धिमस्मानपि तारयिष्यति ।
श्रयन्ति ये त्वामिति भूरिभक्तिभिः,
फलं तवैषां च किमस्ति निर्गुण? ॥१४॥

मू० इस गुणवान पुरुषकी आराधना की हो तो संसार समुद्रसे तरते समय वह अपने को भी तारेगा इस प्रकारकी बाहुल्य भक्तिसे बहुतसे मनुष्य तेरा आश्रय लेते हैं, परन्तु हे निर्गुण ! इससे तुझे और उनको क्या लाभ है ? ॥

वि० यह साधु सन्त है, गुणवान है, धर्मोपदेशक है, तरन तारन है अतः इसका आश्रय लेनेसे–इसकी सेवा भक्ति करनेसे हमारा भी कल्याण होगा यह जान कर गृहस्थी लोग तुझे बहुमान भक्तिपुरस्सर सब कुछ देते हैं, तेरी अनेक प्रकारसे सेवा करते हैं, परंतु इससे उन्हें पुण्यबन्ध होगा यह कल्पना कर इसका कारणभूत होनेसे तुझे भी पुण्यका बन्ध होगा यदि तू यह समझता हो तो यह तेरी भूल है । क्योंकि तुझमें उन भक्तगृहस्थोंकी धारणा मुजब जरा भी सद्गुण नहीं मालुम पड़ते । यदि तू उनके माने हुये सद्गुणोंका पात्र हो और भवसागरसे स्वयं तरने तथा दूसरोंको तारनेकी शक्ति रखता हो तो उन मोक्षार्थी गृहस्थोंसे कराई हुई सेवा भक्ति योग्य है, अन्यथा अपनी कपोल कल्पनासे अपने आपको उस पवित्र और उच्च पदका अधिकारी मान लेनेसे परभवमें तुझे जरा भी लाभ न होगा इतना ही नहीं बल्कि अनधिकारी तथा तू बाह्याडम्बर द्वारा भद्रिक गृहस्थोंको ठगनेके कार-

ण प्रत्युत पापका बन्ध करता है और उस अशुभ कर्मका बन्ध अपनी स्थिति परिपक्व होने पर तुझे वह दारुण फल चखायगा जिसकी तुझे अभी स्वप्नमें भी कल्पना तक नहीं होती। जिस आशासे गृहस्थी लोग तेरा पोषण करते हैं और तेरा आश्रय लेते हैं जब तू उनकी उस आशाको शतांश भी पूर्ण करनेके लिये और अपने पोषणार्थ उनके पाससे लिये हुये अन्न वस्त्र पात्रादि पदार्थोंके बदलेमें उन पर कुछ भी उपकार करनेको असमर्थ है तो तुझे किस बातका लाभ हो सकता है ?॥

निर्गुण मुनिको प्रत्युत पापबन्ध

स्वयं प्रमादैर्निपतन् भवाम्बुधौ,
कथं स्वभक्तानपि तारयिष्यसि।
प्रतारयन् स्वार्थमृजून् शिवार्थिनः,
स्वतोऽन्यतश्चैव विलुप्यसेंऽहसा ॥ १५ ॥

मू० तू स्वयं ही प्रमादसे संसार समुद्रमें पड़ता जाता है तो अपने भक्तोंको किस तरह तारेगा ? बिचारे मोक्षार्थी सरल जीवोंको अपने स्वार्थके लिये ठग कर अपने और अन्यसे तू पाप द्वारा लेपित होता है ॥

वि० दुःख भरे संसारकी मोहजालसे मुक्त होनेकी भावनावाले और मोक्षप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले बिचारे सरल स्वभावी मनुष्य तेरा आश्रय लेते हैं और तेरे किये हुये उपदेशानुसार अपना जीवन बिताते हैं। उन्हें तू जो मार्ग बतलाता है तुझ पर अटल श्रद्धा—विश्वास होनेके कारण वे उसी को अपने कल्याण और आत्मोद्धारका मार्ग समझ कर आश्रय करते हैं, क्योंकि वे तुझे श्रद्धा भक्तिसे अपना हितैषी

नेता समझते हैं । इस प्रकारके विश्वास पात्र और भद्र मनुष्योंको ठग कर तू विश्वासघाती होनेके कारण (अन्य द्वारा) महाचीकने कर्म बाँधता है । पंच महाव्रतोंके पालन करनेके लिये स्वयं की हुई प्रतिज्ञा—प्रत्याख्यानको विषय कषायादि प्रमादमें पड़नेके कारण भंग करता है और तज्जन्य पापकर्मसे तू स्वयं लिप्त होता है । इस प्रकार संयमीय गुणोंसे रहित होनेके कारण तू निर्गुणी है, अतएव तुझे इस दाम्भिक क्रियासे कुछ भी लाभ नहीं । तेरे जैसे दम्भीको, लोकसत्कारके अर्थीको वस्त्रान्न देनेसे देनेवालेको लाभ हो और उसका निमित्त कारण तेरे बननेसे तुझे भी लाभ हो यह दाम्भिक विचार छोड़ दे । यदि तू स्वार्थका चश्मा उतार कर विचार करेगा तो तुझे अवश्य यह मालूम हो जायगा कि इस वंचक वृत्तिसे तू द्विगुणे पापभारसे भारी बन रहा है । इस दाम्भिक आचारसे संसारमें तुझे ऐसी नीच गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ेगा जहाँ पर चिरकाल तक अपनी उत्क्रान्ति करनेके लिये गरदन ऊंची करने तकका भी समय मुअस्सर न हो ।

इस लिये महात्मन् ! इस अपार भवसंसार समुद्रको तरनेके लिये तुझे यह सर्वज्ञप्रभु कथित संन्यस्त एक महान् जहाज मिल गया है । इस जहाजको उन्मार्गमें लेजानेकी मूर्खताको छोड़ कर सच्चा कप्तान बन । पवनका रुख देख अपने इष्टमार्गमें जहाजको चला, इस भवसागरके ऐन उस पार सामने ही तेरे पहुंचनेका स्थान मोक्षनगर है, उसे अपना साध्यबिन्दु बना कर जहाजके चलानेका प्रयत्न कर, तू अवश्य अपने प्राप्तव्य स्थान पर पहुंच जायगा । यद्यपि मार्गमें सामुद्रिक जलचर जन्तु तुझे उपद्रव करेंगे, कई पहाड

भी तेरे जहाजकी गति रोकनेमें विघ्न डालेंगे, परन्तु यदि अपने प्राप्तव्य स्थानको लक्ष्यबिन्दु बना कर हिम्मतके साथ निर्भय हो उपयोग पूर्वक अपने जहाजको इष्ट मार्गमें लेजानेके लिये प्रयत्नशील रहेगा तो अवश्य ही तू अपने साध्यको सिद्ध करनेमें विजय प्राप्त करेगा ।

जो साधुमहात्मा पूर्वजन्मकृत सुकृतके प्रभावसे प्राप्त हुये इस अद्वितीय जहाजका सदुपयोग नहीं करता बल्कि अज्ञानताके वश हो इसका स्वयं नाश कर बचावके साधनोंको ही प्रत्युत डुबानेवाले साधनोंमें फिरा डालता है, वह किसी प्रकार भी अपने आपको एवं अपने आश्रितोंको इस भव सागरसे बचानेके लिये सर्वथा असमर्थ है । वह आत्मकल्याणका मार्ग न लेकर अपने आश्रितों-भक्तों सहित संसार समुद्रमें डूबता है ॥

निर्गुण पर चढते हुये ऋणका परिणाम

गृण्हासि शय्याहृति पुस्तकोपधीन् ,
सदा परेभ्य स्तपसारित्वयं स्थितिः ।
तत्ते प्रमादाद्भरितात्प्रतिग्रहै-,
ऋणार्णमग्नस्य परत्र का गतिः ? ॥१६॥

मू०—तू दूसरोंके पाससे वसति (रहनेका स्थान) आहार, पुस्तक और उपधि ग्रहण करता है, यह स्थिति तपस्वी लोगोंकी (विशुद्ध चारित्र पालकोंकी) है पर तू तो उसे स्वीकार कर पुनः प्रमादवश पड़ जाता है तो फिर महान् कर्जमें डूबे हुयेकी तेरी परभवमें क्या गति होगी ? ॥

वि०—आवश्यकीय वस्तु- वस्त्र, पात्र,. पुस्तकादि धर्मो-

पकरण सिवाय परिग्रह न रखनेके लिये साधु साध्वीको खास उपदेश किया गया है। यद्यपि शास्त्रोक्त वास्तविक साधुपन—साधुका आचार खाँडेकी धारके समान है, साधुपना पालन करना यह कोई लड्डू उड़ाने जैसा सुगम नहीं है, किन्तु लोहेके चने चाबने जैसा है। किसी महापुरुषने साधुको उपदेश करते कहा है कि—" फकीरा फकीरी दूर है जैसी लम्बी खजूर, चढे सो मेवा चाखले पड़े सो चकनाचूर " इस प्रकार सचमुच ही खाँडेकी धारके समान पवित्र दुष्कर साधुपनको आज हमारे पूज्य मुनिराजाओं—साधु सन्त महन्त धर्मगुरुओंने अपनी आराम तलबीके लिये इतना सुगम कर दिया कि वह खांडकी धार बन गया है। जिस साधुपनको बड़े बड़े राजा महाराजादि कर्मवीर धारण करते थे आज उसे संसार व्यवहार चलानेकी भीतिसे कायर या संसारके भारको उठानेमें असमर्थ पुरुष धारण करते हैं। इस पवित्र साधुत्वके आदर्शको नीचा गिरानेके कारणभूत मात्र उसे अंगीकार करनेवाले अनधिकारी पुरुष ही हैं। यद्यपि आज इस विषम कालमें उस आदर्श साधुपनके दर्शन होने दुर्लभ हैं तथापि यदि अधिकारी और योग्य पुरुष ही इस महान पदको धारण करें तो उस सच्चे साधुपनके आदर्शकी झलक तो अवश्य ही देख पड़ने लगे।

साधुमुनिराजको यह विचार करनेकी आवश्यकता है कि साधुपन धारण करते समय वह अपने पूर्वकालीन जीवनके बही खातेको समाप्त कर उस दिनसे उच्चतर नवीन जीवन बितानेकी प्रतिज्ञा करता है और महान् जिम्मेदारियोंको अपने सिर पर उठाता है। इस लिये उसे अपने सिर पर उठाई हुई जिम्मेदारियोंके मुताबिक जीवन बितानेका ध्यान

रखना चाहिये। अर्थात् उसने जिन जिन जवाब दारियोंका भार अपने सिर पर लिया है उनकी ओर सदैव लक्ष्य रख-कर अपनी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार ही उसे अपना आचार विचार और उच्चार रखना चाहिये। छाद्मस्थिक दोषके कारण कदाचित अपनी की हुई प्रतिज्ञामें कुछ अतिचार-दूषण लग जाय और वह मालूम होने पर उसके पश्चात्तापमें सर्वथा साधुपदको छोड देनेका विचार होता हो तो यह बड़ी भारी भूल है। क्योंकि अज्ञानतासे होनेवाली उस भूलके मालूम होनेसे यदि सच्चा पश्चात्ताप होता हो तो उसका प्रायश्चित्त साधुपदका परित्याग कर पुनः संसारमें डूबनेसे नहीं कन्तु उस दिनसे वह भूल या उस प्रकारकी अन्यभूल जो अपने आदर्शको धक्का पहुंचाती हो न करनेसे ही पश्चात्तापकी सफलता और उस दोषका प्रायश्चित्त होजाता है। क्योंकि साध्यदशामें रह कर ही सिद्ध दशा प्राप्त की जा सकती है। साध्यदशाको छोडकर सिद्ध दशा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना यह बालूमेंसे तेल निकालनेके समान है। इस लिये साध्य दशा और सिद्ध दशाके बीच जो अन्तर है उसे ध्यानमें रख कर ही इस उपदेशको हृदयमें उतारा जाय तो ही लाभ होनेका सम्भव है, अन्यथा जिस प्रकार शास्त्र-शब्दसेसे एक पाण निकाल डालनेसे वही शस्त्र बन जाता है उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये। शास्त्रमें लिखे हुये अशुद्ध अभ्यासक्रमके वचनों और इस प्रकारके उपदेशके सक्त वचनोंकी पूर्वापर अविरोधी तया व्यवस्था करने और विचार पूर्वक उनका रहस्य समझ लेनेकी इस जमानेमें परमावश्यकता है।

यदि संयममें दिनप्रतिदिन मूल और उत्तर गुणों

सम्बन्धी दूषण सेवनकी वृद्धि ही होती जाय और मुख्य साध्यकी ओरसे सर्वथा लक्ष्य ही उठ जाय या हृदयमें रात दिन आर्तध्यानकी सन्तति कायम रहती हो और हजारों प्रयत्न करने पर भी पूर्वकृत अशुभ कर्मोदयके प्रबल प्रभावसे चित्त स्थिर न हो सकता हो तो इस प्रकार अमूल्य मानव जन्मको सर्वथा व्यर्थ गवाँ देनेकी अपेक्षा अध्यात्मसारग्रंथमें लिखे मुजब साधुवेशको छोड कर उत्तम गृहस्थीपनके योग्य गुण संपादन कर उसे अपना जन्म सफल करना चाहिये। परन्तु जिसमें लेश भी रुचि नहीं उस पवित्र साधुपदके भार नीचे दब कर अपने दुर्लभ मनुष्य जीवनको नष्ट न करना चाहिये। यदि उसे यह मालूम देता हो कि वेश छोड़नेसे सर्वथा ही मेरा अधःपतन हो जायगा, या वेशप्रेम होनेके कारण वेश छोड़नेमें भी असमर्थ हो तो आगे बतलाये हुये मार्गके अनुसार संवेगपक्ष धारण करके भी आत्महितकी दृष्टि न चूकना चाहिये और अति प्रमाद सेवन कर साध्यदृष्टि रहित हो अनन्त भवसंसार उपार्जन न करना चाहिये। कचित प्रबल कर्मोदयसे अमुक अनाचरणरूप दूषण लग भी जाय तो उसमें वेश परित्याग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि ऐसा न होता तो फिर स्खलनाके सद्भावमें इस प्रकारके प्रायश्चित्त आगममें लिखनेकी शास्त्रकारोंको कोई जरूरत ही न थी। मोक्षाभिलाषी और तदनुसार आचरण करनेकी इच्छावाले मुनिराजको छद्मस्थताके कारण लगा हुआ दूषण प्रायश्चित्तसे दूर हो सकता है। हाँ यदि प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होकर भी वह मोहकी विवशतासे धर्मके उत्साहसे निरपेक्ष हो वारंवार उसी अनाचरणके गढेमें उतरे और उससे अनन्तकाल पर्यन्त दुर्लभ बोधिपन प्राप्त करता हो तो इस अपे-

क्षासे तो उसे वेश परित्याग कर उत्तम श्रावकपन—उत्तम गृहस्थाश्रम या संवेगपक्षीपना स्वीकारना यह सर्वोत्तम तथा एकान्त आत्महितकारी है।

कदाचित् संयम ग्रहण किये बाद इस प्रकारकी स्थितिमें आगया हो कि संयम पालनेके लिये उसे सर्वथा अपना असामर्थ्य मालूम देता हो और उस उलझन भरे प्रश्नका निराकरण वह स्वयं न कर सकता हो तो उस परिस्थितिमें उसे किसी यथार्थ गीतार्थ महात्माकी शरणमें जाकर उसकी सम्मति ले पुनः अपनी आत्मध्वनिके अनुसार जीवन बिताना चाहिये।

कितनेएक अल्पज्ञानी साधु मुनिराज राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ ईर्षादिके परित्यागकी प्रतिज्ञा कर थोड़ेसे ममत्वके लिये अपने उस आदर्श पालनसे मिलनेवाले महान् लाभको खो बैठते हैं, या कितनेएक भोले मुनिराज प्रमाद विवश जनताको सन्मार्गका उपदेश देनेके अपने पवित्र कर्तव्यको भूल जाते हैं। वे अपने कर्तव्यमार्गसे च्युत होकर अधोगतिके अधिकारी न बनें इसी हेतुसे ग्रन्थकारने जरा कटु दवाके समान यह हितोपदेश दिया है अन्यथा किसी व्यक्ति पर आक्षेप करनेका या किसीकी निन्दा करनेका कोई कारण नहीं है। अर्थात् धर्मगुरु पदाधिकारी प्रमादके वश हो अपने अधिकारसे नीचे न गिरें इस दृष्टिबिन्दुसे ही ग्रन्थकर्ताने कुछ कटु परन्तु सर्वथा हितकर शब्दोंमें बोध दिया है।

बेशक जो संयमको अनुपयोगी है वैसे अनेक प्रकारके परिग्रहको धारण कर जो संसारके विषयोंमें आसक्त रहते हैं उनके लिये यहाँ पर स्थान नहीं है। उन्हें साधु, सन्त,

महन्त, संन्यासी यति, श्रीपूज्य तथा मुनिराज कहलानेका कोई अधिकार ही नहीं। धर्मके बहाने आजीविका चलानेवाले, अपने आश्रित भक्तोंको ठगनेवाले धर्मशास्त्रका दुरुपयोग कर मंत्र तंत्रादिका स्वांग रच कर लोगोंमें अपनी ख्याति करनेवाले प्रमादी, गृहस्थों पर भार रूप इस प्रकारके अधोगति गामी अपने आपको साधु महाराज कहलानेवाले महात्मा जब इस विषय पर वास्तविक रीतिसे, हितबुद्धिसे विचार करेंगे उस वक्त उनकी और साथ ही उनके आश्रितोंकी भी स्थिति जरूर सुधरेगी ॥

यद्यपि लोकरंजन और स्तुतिइच्छाके बारेमें प्रथम कुछ विवेचन किया गया है तथापि यह विशेष आवश्यकीय होनेके कारण ग्रन्थकार पुनः रूपान्तरसे इसी विषयका उपदेश देते हैं।

महात्मन्! तेरे किस गुणके कारण तू ख्यातिकी इच्छा करता है?।

न क्वापि सिद्धिर्न च तेऽतिशायि,
मुने क्रियायोगतपः श्रुतादि।
तथाप्यहङ्कारकदर्थितस्त्वं,
ख्यातीच्छया ताम्यसि धिङ्मुधा किम् ॥ २१ ॥

मू० हे मुने! तेरे अन्दर न तो कोई खास सिद्धि है, न उच्च प्रकारकी क्रिया है, न योग तप है और न ही ज्ञान है, तथापि अहंकारसे कदर्थित हो ख्याति प्राप्तिकी इच्छासे तू व्यर्थ ही परिताप क्यों करता है? ॥

वि० साधु मुनिराजके तपःप्रकर्षसे उसमें आठ महान्

शक्तियें पैदा हो जाती हैं, उन शक्तियोंको सिद्धियाँ कहते हैं और उनका नाम तथा प्रभाव निम्न लिखे मुजब होता है।

अणिमा सिद्धि–इस सिद्धि द्वारा महात्मा अपने शरीरको इतना सूक्ष्म बना सकता है कि एक सोईके नकवे जितने सूक्ष्म रंध्रमेंसे भी वह सुगमतासे निकल सके।

महिमा सिद्धि—यह दूसरी सिद्धि प्रथम सिद्धिसे विपरीत प्रभाववाली है, इसके द्वारा इसका मालिक महात्मा अपने शरीरको इतना स्थूल बना सकता है कि लाख योजन ऊंचा सुमेरु पर्वत भी उसके जानु समान हो जाय!

लघिमा सिद्धि—इस शक्ति द्वारा वह महात्मा अपने शरीरको पवनके समान हलका बना सकता है।

गरिमा सिद्धि—इसके द्वारा वह महात्मा अपना शरीर वज्रसे भी अत्यन्त कठिन और इतना भारी बना सकता है कि जिसका भार इंद्रादि देवता भी सहन न करसकें।

प्राप्ति सिद्धि—इस प्राप्तिशक्तिसे मुनिराज अपने शरीरको इतना ऊंचा कर सकता है कि वह भूमि पर रहा हूआ भी अंगुलीके अग्रभाग द्वारा मेरु पर्वतकी चोटी और ग्रह नक्षत्रादिका स्पर्श कर सकता है।

प्राकाम्य सिद्धि—उस शक्तिको प्राप्त करनेवाला महात्मा जलके समान स्थलमें (जमीनमें) गोता-डुबकी लगा सकता है और स्थलके समान जलमें चल सकता है।

ईशत्व सिद्धि—इस शक्ति द्वारा वह महात्मा चक्रवर्ती सम्राट तथा इंद्रके समान ऋद्धि प्रगट कर सकता है।

वशित्व सिद्धि—इस शक्तिसे इसका संपादक क्रूरमें क्रूर सिंहादि पशुओं तकको वश कर लेता है, अर्थात् जिसे

वह शक्ति संप्राप्त होती है क्रूरातिक्रूर प्राणी भी उसके वश होजाते हैं ।

कितनेएक शास्त्र ऐसे हैं कि जो साधुपन ग्रहण करने पर भी तुरन्त ही उनके पढ़नेकी आज्ञा नहीं है । उन शास्त्र सिद्धान्तोंको पढनेके लिये योग्यता संपादन करनेकी आवश्यकता होती है, इस लिये अमुक समय तकका दीक्षापर्याय होने पर ही विधि पूर्वक क्रिया और तप करके साधु उन धर्मशास्त्रोंका अध्ययन कर सकता है । शास्त्रमें इस तपःक्रिया पुरस्सर सूत्राध्ययनको योगोद्वहन कहते हैं । इस योगोद्वहनका हेतु समझनेकी साधुवर्गको विशेषतः आवश्यकता है। यदि इसका रहस्य समझा जाय तो जैन समाजके साधु और गृहस्थ वर्गमें बहुत कुछ सुधार हो सकता है । नासमझीके कारण आज इस योगोद्वहन और उपधानके नामसे समाजका प्रतिवर्ष लाखों रुपया व्यय होता है और उसका परिणाम क्या आता है यह भी समाज समझता है। वास्तवमें विचार किया जाय तो आज होनेवाले योगोद्वहन और उपधानकी क्रिया आत्मा रहित देहके समान रह गई है । उसके करने और करानेवाले मात्र महत्वाकांक्षाके लिये ही कर करा रहे हैं । श्रावक वर्ग तो सर्वथा ही इस विषयके रहस्यसे अनभिज्ञ है और न ही उसमें जिज्ञासा वृत्ति है । रहे साधु मुनिराज, उनमें भी इस क्रियाको करानेवाला अधिकांश वर्ग इसके हेतु रहस्यसे अनजान ही है । स्वल्पाल्प साधु जो इस क्रियाके हेतु रहस्यको जानते हैं वे भी गतानुगत की प्रथामें फस गये हैं । इस क्रियाके करानेवाले आचार्य और पंन्यास सब ही अपनी आरम्भ की हुई क्रियाकी उत्कर्षता दिखानेका प्रयत्न करते हैं और अज्ञानताके कारण

इससे वे अपना बड़ा भारी महत्व समझते हैं। जब उपधान नामक इस निर्जीव क्रियाकी समाप्ति होती है और माला पहननेका समय आता है उस वक्त वरघोड़ा (समारोह) निकाला जाता है, उसमें एक दूसरेकी स्पर्धासे हजारों रुपयोंका पानी करते हैं। आज कल श्रीमंत लोग विशेषतः इस क्रियाके करानेमें अपने धनका व्यय कर अपने आपको जैन धर्मके आराधक समझते हैं। किन्तु उस क्रियाको करनेवाली विधवायें बालविधवायें एवं एक दफा मिल गया तो दूसरी दफाका फाका भरनेवाले बिचारे गरीब साधर्मी भाइयोंकी सोचनीय दशाकी ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देते। जैन धर्मकी उन्नति मात्र क्रियाकाण्डकी उत्कर्षता या मंदिरोंकी उत्कर्षतासे नहीं हो सकती किन्तु क्रियाकाण्डको करनेवाले और मंदिरोंको पूजनेवालोंकी उत्कर्षता पर ही जैन धर्मकी उन्नति निर्भर है। यद्यपि शास्त्रोक्त क्रियाकाण्डकी उत्कर्षतासे धर्मकी पुष्टि होती है तथापि समाजकी नस नसमें भरा हुआ अज्ञानतारूप बुखार जब तक दूर न किया जाय तब तब उसे खिलाई हुई पुष्टिकी दवायें कुछ भी फायदा नहीं कर सकतीं। इस लिये जो आधुनिक समयमें धर्मोन्नतिके नामसे उपधानादि क्रियाओंमें प्रतिवर्ष लाखों रुपया व्यय किया जाता है (कई जगह पर जिसका परिणाम भी धर्मोद्रोहका रूप धारण करता है) यदि समाजके नेता समयकी परिस्थितिको देख कर इन अनावश्यक क्रियाओंको कुछ समय तक मुल्तबी रख उनमें व्यय होनेवाली रकम शिक्षणादि समाज सुधारके कार्यमें नियुक्त करें और व्यवस्था पुरस्सर उसका सदुपयोग किया जाय तो अवश्यमेव जैन धर्मकी समुन्नति दशवर्षमें ही दृष्टि गोचर हो सकती है।

योगवहनकी क्रियामें अमुक विधि और तप किये बाद

सूत्रका पाठ पढ़नेकी आज्ञा मिलती है, उसे उद्देश कहते हैं। इससे अधिक योग्यता प्राप्त होने पर गीतार्थ गुरु महाराजकी ओर से उस पाठका अर्थ रहस्य समझने, पुनरावर्तन करने तथा उस विषयमें शंका समाधान कर उसे स्थिर करनेकी चर्चादि करनेकी आज्ञा मिलती है, उसे समुद्देश कहते हैं। जब इससे भी अधिक योग्यता प्राप्त हो जाय तब उस सूत्रार्थको दूसरोंको पढ़ाने, सुनाने एवं उसका चाहे जो सदुपयोग करनेका पूर्ण अधिकार मिलता है उसे अनुज्ञा कहते हैं। योगोद्वहनका साधारणतः यह हेतु है कि अमुक दीक्षा पर्यायके बाद योग्यतानुसार पूर्वोक्त तीन सोपान प्राप्त करने पर संयमकी रमणता द्वारा वह मन वचन और काया पर योग्य अंकुश रख सकता है, अतएव वह समयानुकूल अपवाद मार्ग भी ग्रहण कर सकता है। अर्थात् इस क्रिया द्वारा मन वचन और शरीर पर योग्य संयम प्राप्त करना ही योगोद्वहनका साधारण हेतु है।

योगचूर्णादिकी प्राप्तिसे भी लोक रंजनता और मन मानी ख्याति प्राप्त हो सकती है। जड वस्तुओंमें अनन्त शक्ति रही हुई है, दो वस्तुओंके संयोगसे या अधिक वस्तुओंके संयोगसे इस प्रकारका चूर्ण बन सकता है कि उसके द्वारा अनेक चमत्कार बतलाये जासकें। दृष्टान्तके तौर पर यदि उस चूर्णको पानीमें डाल दिया जाय तो बहुतसी मछलियाँ बन जाती हैं, सिंह पैदा हो जाय, जल मार्ग दे देवे, इत्यादि अनेक आश्चर्य उत्पन्न हो सकते हैं। इन पूर्वोक्त तपप्राप्त शक्तियोंका तुझमें सर्वथा अभाव देख पडता है। मुनिपदके योग्य परीषह या उपसर्ग सहनादि किसी प्रकारका घोर-तप भी तू नहीं करता। सूत्र सिद्धान्तका रहस्य समझने

या गीतार्थ बनने जितना ज्ञान भी तूने संपादन नहीं किया. यद्यपि इन पूर्वोक्त शक्तियोंके प्राप्त होने पर उस गम्भीर हृदयी महात्माको महत्वाकांक्षादिकी लेश मात्र भी भावना नहीं होती, तथापि यदि तुझे इस प्रकारके गुण प्राप्त हुये हों या इनमेंसे एक भी असाधारण गुण तुझे प्राप्त हुआ हो तो भी तेरी यह आत्मख्यातिकी भावना-प्रसिद्ध होनेकी इच्छा कदाचित् योग्य समझी जाय। परन्तु जब तेरे अन्दर मुनिपदके योग्य एक भी ऐसा असाधारण गुण नहीं कि जिसके कारण जनता तेरी पूजा करे, उस गुणसे तेरी ख्याति हो, मान सन्मान मिले, तब फिर तू किस बिरते पर इतना अभिमान, इतना आडम्बर रखता है? गुण प्राप्ति किये विना प्रसिद्धिकी तीव्र खोखी इच्छासे क्यों अपनी आत्माकी कदर्थना करता है? मुनिपदके गुण कस्तूरीके समान होते हैं, जिस महात्माको वे प्राप्त होते हैं वे उसके छिपानेसे भी नहीं छिपते। उन गुणोंकी सुगन्ध स्वयं ही दूर दूर तक फैल जाती है। इस लिये महात्मन् आत्मख्यातिकी चिन्ता छोड़ कर अपने पदके योग्य गुण संपादन करनेकी चिन्ता कर। मुनिपदके योग्य गुण प्राप्त हो जायँगे तब स्वयं ही तेरी ख्याति होनेमें देरी न लगेगी।

निर्गुण होने पर भी स्तुतिकी इच्छा रखनेका फल।

हीनोऽप्यरे भाग्यगुणै मुधात्मन्,
वाञ्छंस्तवार्चाद्य न वाप्नुवंश्च।
ईर्ष्यन् परेभ्यो लभसेऽतिताप,
मिहापि याता कुगतिं परत्र ॥ १७ ॥

मू० आत्मन् ! तू निष्पुण्यक होने पर भी पूजा वगैरहकी इच्छा रखता है और वह न मिलने पर ईर्षा करता है। इससे तू इस लोकमें संताप प्राप्त करता है और परलोकमें खराब गतिमें जायगा ॥

वि—परभवमें तूने किसी प्रकारका सत्कार्य न किया होनेके कारण इस भवमें तू निष्पुण्यक है, तथापि तू प्रसिद्धि प्राप्तिकी इच्छा करता है और वह न मिलने पर मनमें खेद धारण करता है। ऐसा करनेमें तू बड़ी भारी भूल करता है। क्योंकि किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेसे प्रथम उस वस्तुको प्राप्त करनेकी योग्यता—पात्रता प्राप्त करना अत्यावश्यक है। योग्यता संपादन किये विना उसकी प्राप्ति की इच्छा करना व्यर्थ है। यदि किसी प्रकार वह इच्छित वस्तु विना योग्यताके प्राप्त भी होगई तो वह चिरस्थायी कदापि नहीं रह सकती। प्रसिद्धि प्राप्तिकी इच्छा करनेसे पहले तुझे चाहिये कि उसके योग्य गुणवान बने। संसारमें सदैव सद्गुणी मनुष्यकी ही प्रसिद्धि और ख्याति होती है, गुणहीन मनुष्योंसे तो समस्त संसार भरा हुआ है अतः उनकी ख्याति ही किस बातसे हो? संसारमें असार वस्तुयें बहुत भरी हैं परन्तु सार और कीमती पदार्थ बहुत कम हैं। गुणरहित निस्सार जीवन जीनेवाले मनुष्य बहुत हैं किन्तु सद्गुणयुक्त जीवन जीनेवाले महात्मा संसारमें बहुत ही अल्प हैं, अतएव उन सद्गुणाढ्य जीवन जीने वाले महात्मा महा पुरुषोंका ही जीवन महा कीमती होता है और संसारमें कीमती तथा अल्प वस्तुकी ही ख्याति प्रसिद्धि होती है। इस लिये यदि तुझे प्रसिद्ध होना हो तो प्रथम तद् योग्य गुण संपादन कर

और अपने कर्तव्यको प्रेम पूर्वक पालन कर। प्रसिद्धि या स्तुति कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जो इच्छा मात्रसे प्राप्त होसके। वह तो गुण प्राप्त होने पर बिना इच्छा किये भी प्राप्त हो जाती है, परन्तु गुण प्राप्ति बगैर ताजिन्दगी इच्छा करने पर भी वह प्राप्त नहीं होती। वास्तवमें योग्यता विना जो उसकी इच्छा करता है उससे वह कोसों दूर भागती है और जो उसे तुच्छ समझ कर आत्मविकाशी गुणको प्राप्त करनेमें तत्पर रहता है इच्छा न करने पर भी वह उसके पैरोंमें आकर पडती है। इस लिये इससे सिद्ध है कि ख्याति स्तुति प्राप्त करनेकी इच्छावालेको गुण संपादन करनेमें ही तत्पर रहना चाहिये।

यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो यह सवाल पैदा होता है कि तू कौन है? तू अनन्त जीवात्मराशिमें से एक व्यवहारी जीवात्मा है, उन अनन्त जीवात्माओंमेंसे अनेकानेक जीवात्मायें संसारमें ऊंच नीच जातियोंमें जन्म धारण कर अनेक चमत्कारी कार्य कर पानीके बुलबुलेके समान पुनः अपने स्वरूपसे नष्ट हो दूसरी गतिको प्राप्त करती हैं। उनके किये हुये उन चमत्कारी कार्योंसे संसारमें किसकी कितने दिन प्रसिद्धि कायम रही है? किसकी सदैव याद दास्ती रही है? इस अनादि अनन्त काल चक्रमें न तो सदैव किसीकी कीर्ति या ख्याति रही है और न ही रह सकती है।

यदि दूसरी अपेक्षासे विचार करें तो तू साधु महात्मा है, सर्वज्ञ देव महावीर प्रभुका तू ज्येष्ठ पुत्र है, अर्थात सर्वज्ञ देव कथित साधु श्रावक मार्गमें तू साधु मार्गको अंगीकार करनेवाला है। महावीर प्रभुका ज्येष्ठ पुत्र होनेके कारण उनके शासनका तू आधार भूत है। क्या सर्वज्ञ प्रभु महावीर कभी स्तुतिकी

या अपनी कीर्ति व ख्यातिकी इच्छा करते थे ? इन्द्रों द्वारा किये हुये उनके सत्कार महोत्सवसे या दशार्णभद्रादि राजा महाराजाओंके किये हुये उनके स्वागत महोत्सवसे महावीर देवके मन पर क्या कभी भी कुछ असर हुई थी ? यदि नहीं तो तुझे भी तेरे उपकारी पूज्य नेताके मार्गका अनुकरण करना चाहिये। अनादि अनन्त संसारमें परिभ्रमण करते हुये इस प्रकारका सुअवसर मिलना महादुर्लभ है, इस लिये प्रसिद्धि प्राप्तिके लालचको छोड कर गुण प्राप्त करनेका लालच कर।

विना गुण स्तुतिकी इच्छा करनेवाले पर कर्ज.

गुणैर्विहीनोऽपि जनानतिस्तुति-,
प्रतिग्रहान् यन्मुदितः प्रतीच्छसि।
लुलायगोऽश्वोष्ट्रखरादिजन्माभि-
र्विनाततस्ते भविता न निष्क्रयः ॥ १८ ॥

मू——न निर्गुणी होने पर भी लोगोंकी ओरसे वन्दन, स्तुति, आहार पानी ग्रहण करना आदि खुशी होकर इच्छता है, परन्तु स्मरण रखना कि भैसा, बैल, घोडा, ऊंट या गधा आदि के जन्म धारण किये विना कर्जसे तेरा छुट कारा न होगा ॥

वि——अधिकार प्राप्त किये विना जितनी वस्तुयें तू लोगोंसे ले रहा है वे सब तुझे वापिस देनी पडेंगी। उनके उस कर्जका बहीखाता तुझे चुकता कर देना पडेगा। तू यह न समझना कि तेरे बाह्य वेशको देख निर्गुणी होने पर भी गुणी समझ कर लोग तुझे वन्दन करते हैं, तेरी सेवा पूजा करते हैं, खुशामद कर तेरे पैरों में पड कर भी तुझे

वे अपने घर ले जाते हैं और कष्टसे प्राप्त किया हुआ आहार पानी जो भक्ति पुरस्सर देते हैं वह तुझे यों ही मुफत में पच जायगा। कदापि न पचेगा। हाँ यदि तू अपने अधिकार के अनुसार अपना कर्तव्य पालन करेगा तो बेशक तू उन वस्तुओंको ग्रहण करनेका हकदार है, अन्यथा भवान्तर में बैल बन कर भार वहन करके, या घोडा बन कर वाहन खींचकर अथवा ट्रामका घोडा बन कर भूख प्यासादि अनेक कष्ट सहकर, या गधा भैंसा आदिका जन्म ले भार वहन करके भी तुझे यह कर्ज अवश्य देना पडेगा। भवान्तर में तुझे पूर्वोक्त दुःखमय स्थिति प्राप्त न हो इस लिये गुणरहित स्तुति ख्यातिकी इच्छा न रख कर गुण प्राप्तिका प्रयास कर। स्तुति और ख्याति गुणोंके सामने तुच्छ है, उसकी कुछ कीमत नहीं, जिस प्रकार धान्य प्राप्त करने की इच्छावाले किसान को धान्य प्राप्तिका उपाय करने पर घास स्वतः ही प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार गुण प्राप्तिका उपाय करनेसे स्तुति ख्याति तो स्वयं ही होने लगती है॥

गुणेषु नोद्यच्छसि चेन्मुने ततः
प्रगीयसे यैरपि वन्द्यसेऽर्च्यसे।
जुगुप्सितां प्रेत्यगतिं गतोऽपितै
र्हसिष्यसे चाभि भविष्यसेऽपिवा॥ १९॥

मू—हे मुने ! यदि तू गुण प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं करता तो फिर जो तेरी गुणस्तुति करते हैं पूजा करते हैं, वन्दन करते हैं जब तू कुगति में जायगा तब वे ही तेरी हँसी करेंगे या तेरा पराभव करेंगे॥

वि—दुनियामें सर्वत्र गुणोंकी ही पूजा सेवा होती है, गुणोंकी ही स्तुति ख्याति होती है और वही शोभा भी देता है शास्त्रमें कहा है कि–गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते नच लिङ्गास्तु कदाचन" गुणहीन मनुष्य अपनी महत्वाकांक्षाके लिये कदाचित् भोले मनुष्योंसे गुणस्तुति पूजा सेवा प्राप्त कर भी ले तो वह कुछ शोभा पात्र नहीं गिनी जाती और न ही उसकी कुछ कीमत होती है, बल्कि भवान्तर में उससे बडा कष्ट उठाना पडता है । कदाचित् अपनी वाक्चतुराईसे—वाचालतासे या बाह्याडम्बर से इस लोक में भोलेभाले मनुष्यों के दिल पर अपनी छाप डाल कर याने उन्हें ठग कर मान सन्मान प्राप्त कर ले और अपने दुराचरणोंका पडदा न उठने दे, किन्तु भवान्तर में तो उसका वह दम्भ कदापि नहीं चल सकता । वहाँ पर उसकी चतुराई पर पानी फिर जाता है, अपने किये हुये अशुभ कर्मका फल वहाँ पर किसी भी रूपमें अवश्य भोगना पडता है ॥

गुणरहित वन्दनपूजनसे स्वहित नाश ।

दानमाननुति वन्दनापरै-,
मोदसे निकृतिरञ्जितै र्जनैः ।
नत्ववैषि सुकृतस्य चेल्लवः,
कोऽपि सोऽपि तव लुण्यते हि तैः ॥२०॥

मू—तेरी कपट जालसे रंजित हुये लोग तुझे दान दें, नमस्कार करें तब तू खुशी होता है परन्तु तुझे यह मालूम नहीं कि तेरे पास यत्किंचित् सुकृत होगा तो वे उसे भी लूटते हैं ॥

वि—बाह्यवेश, असत्योपदेश और मिथ्याडम्बर करके तू कपट जाल फैलाता है। इस जालमें अनजान पक्षियोंके समान बिचारे भोले भाले मनुष्य भूलसे फस जाते हैं और फिर वे तुझे दान मानादि सर्व वस्तुयें देकर संतोषित रखते हैं। इससे तू बड़ा खुशी और गर्विष्ट होता है। परन्तु यह तेरी बडी भारी मूर्खता भरी भूल है। क्योंकि ऐसा करनेसे कदाचित् तेरे पास कुछ थोडासा पुण्यांश होगा तो वह भी तू खतम कर रहा है और आगे के लिये केवल पाप कर्म बन्ध के सिवा अन्य कुछ नहीं करता। तुझे इस अशुभ कर्मका भवान्तरमें क्या फल मिलेगा तू इस पर कुछ विचार करता है ? अज्ञानतावश तू दूसरोंको अपनी स्वार्थी जालमें फसा कर सहर्ष यह विचार करता है कि मेरी जाल में पक्षी खूब फसे हैं। किन्तु तुझे स्मरण रखना चाहिये कि वे पक्षी जिन्हें तू फसा कर खुशी होता है और मन ही मन अपनी कपटपूर्ण चतुराईको सराहता है निर्दोष हैं, भद्रिक हैं, वे शुभ भावनासे ही आकर तेरी मायावी जालमें फसे हैं, अतएव अवसर पाकर वे तो निकल भी जायँगे परन्तु जब वे निकल जायँगे तब तुझे बडा भारी नुकसान होगा। तेरे पास जो पक्षियोंको फसानेकी साधन शक्ति है वह भी नष्ट हो जायगी। इस प्रकार इस तेरी कपटपूर्ण प्रवृत्तिसे तुझे लाभके बदले हानि ही होती है। इसके उपरान्त तुझे तेरी कपट प्रवृत्तिको ढक रखनेके लिये रातदिन अनेक प्रकारके प्रपंच रचने पडते हैं। इस लिये इन सब बातों पर तुझे भली प्रकार विचार करना चाहिये ॥

स्तुतिका रहस्य गुणार्जन।

भवेद्गुणी मुग्धकृतैर्न हि स्तवै-
र्न ख्याति दानार्चन वन्दनादिभिः।

विना गुणान्नो भवदुःख संक्षय-,
स्ततो गुणानर्जय किं स्तवादिभिः ॥२१॥

मू—मुग्ध मनुष्योंकी की हुई स्तुतिसे कोई गुणी नहीं बनता, एवं प्रख्याति प्राप्त करनेसे अथवा दान, पूजा, वन्दना प्राप्त करनेसे भी कोई मनुष्य गुणवान नहीं होता। गुण विना संसारके दुःख का नाश नहीं होता, अतएव महात्मन्! गुण प्राप्त कर, स्तुति वगैरहसे क्या लाभ है? ॥

वि—संसारमें समस्त प्राणधारी दुःखका नाश करने और सुख प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। किन्तु मनुष्यको यह बात बराबर लक्ष्यमें रखनी चाहिये कि जिस सुखके पीछे मुँह फाड कर दुःख राक्षस खडा हो उसे शास्त्रकार वास्तविक सुख नहीं कहते। परन्तु जिस सुखके प्राप्त होने पर फिर कभी दुःखका दर्शन ही न हो, आत्मा सदाकाल सुखासीन रहे उसे सच्चा सुख समझना चाहिये। वह वास्तविक सच्चा सुख मोक्ष प्राप्त होने पर ही मिलता है। जितने संसार सम्बन्धी सुख हैं उनमें छिप कर दुःख रहता है। अज्ञानतावश मनुष्य उसे देख नहीं सकता, इसी कारण वह मोक्ष प्राप्तिके उपायोंसे परांमुख होकर सांसारिक सुखोंकी ओर दोडता है। अतएव अज्ञानको दूर कर सच्चे सुखका निदान मोक्षको प्राप्त करने के लिये मनुष्यको असाधारण गुणार्जन करना चाहिये। संसारमें ऐसे भी बहुतसे मनुष्य हैं जो बाह्यवृत्तिसे मोक्ष प्राप्तिके पथ पर आरूढ हो कर भी अज्ञानताके कारण उसके रहस्यको न समझनेसे गुणार्जन करनेकी ओर ध्यान तक नहीं देते। वे मात्र मुग्ध प्राणियों द्वारा की हुई अपनी स्तुति प्रशंसा सुनकर फूल जाते हैं और सिर्फ उतनी ही प्राप्तिसे अपने आपको

कृतकृत्य समझ लेते हैं। कोई व्यक्ति अपने भक्तोंके यह कहनेसे कि महाराज! आप तो समता सागर हैं या आपश्री तो गौतम प्रभुके समान गुणनिधि हैं कदापि गुणवान नहीं हो सकता। हां जो उसका प्रतिपक्षी वर्ग है यदि वह भी सच्चे दिलसे उसकी स्तुति प्रशंसा करता हो तो अवश्यमेव यह मानना पडेगा कि उसमें जरूर गुणोंने वास किया है। गुणोंका अभाव होने पर गुणी तरीके प्रसिद्ध होना, गुणवान योग्य वन्दन पूजनकी इच्छा करना यह सब कुछ आत्माको मलीन करनेवाला है। क्रोध, मान, माया, लोभको जीतना उन पर संयम प्राप्त करना, ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना, असत्यका परित्याग करना, निस्पृहता धारण करना, न्याय वृत्तिसे जीवन गुजारना और शुद्ध व्यवहार वगैरहको हृदयमें दृढ तया जमा रखना यह सब कुछ आत्मविकास और आत्मोन्नतिका मार्ग है। इस मार्गमें चलनेसे ही आत्मोद्धार हो सकता है अन्यथा नहीं॥

अध्येषि शास्त्रं सदसद्विचित्रा-
लापादि भिस्ताम्यसि वा समर्थः।
येषां जनानामिह रञ्जनाय,
भवान्तरे ते क्व मुने क्व च त्वम् ॥२२॥

मू—हे मुने! जिन मनुष्योंका मन रंजन करनेके लिये तू अच्छे और बुरे अनेक प्रकारके शास्त्रोंका अध्यायन करता है और माया (कपट) पूर्वक विचित्र प्रकारके भाषणों द्वारा (कण्ठशोषणादि) खेद सहन करता है भवान्तरमें वे कहाँ जायेंगे और तू कहाँ होगा? ॥

वि—यदि यों कहा जाय कि हम तो सब कुछ जनरंजनार्थ ही करते हैं, लोगोंको रिझानेके लिये ही व्याख्यान देते हैं या निमित्त शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्रादि पढते हैं, अथवा मायायुक्त बर्ताव और वचन रचना रखते हैं, हमें तो इसीसे आनन्द प्राप्त होता है, आगे जो होगा सो देखलेंगे। तो तुझे कहा जाता है कि भाई! तेरी यह लोकरंजन पालीसी कब तक चलेगी? तू कदापि जीवन संग्राममें इस काष्टकी तल्वारसे विजय प्राप्त नहीं कर सकता। कदाचित इस वक्त पचीस पचास भोले भद्रिक मनुष्य तेरी स्तुति प्रशंसा करें परन्तु उससे तेरी आत्माको क्या लाभ? तेरे इस बनावटी मुलम्मेके आचारका झोल उतर जाने पर तेरी क्या दशा होगी? या तेरी मृत्युके बाद तेरे विषयमें लोगोंके क्या खयाल पैदा होंगे? यदि कथंचित तूने अपने मुलम्मेका झोल न भी उतरने दिया और इस तुच्छ जिन्दगी पर्यन्त भी तू अपने भक्तों द्वारा अपनी स्तुति सुनता रहा तो तेरी मृत्युके बाद लोग तेरी स्तुति करते हैं या निन्दा यह तू कहाँ सुनने आयगा? इस लिये तुझे इन सब बातों पर विचार कर अल्प जीवन सम्बन्धी तुच्छ मान बडाईकी आकांक्षा छोड कर सच्चे परमार्थी लाभके लिये प्रयत्न करना चाहिये और खास कर अपने विचार उच्चार और आचारको एक रखनेके प्रयत्नमें विशेष ध्यान रखना चाहिये। ऐसा करनेसे तेरे इहलोक तथा परलोक दोनों ही सुधर सकेंगे। इस लोकमें तू सदाके लिये अपनी पवित्र अचल कीर्ति रख जायगा और परलोकमें अपनी आत्माको सुखासीन बनायगा।

यह बात हम प्रथम लिख चुके हैं कि संसारमें मानकी मात्रा अधिक होनेके कारण समस्त प्राणियोंमें अहंकारता देख

पड़ती है । अज्ञानतावश संसारी जीवोंको लोक सत्कार बड़ा ही मीठा—मधुर लगता है । मनुष्य स्वभावमें अपूर्णताके कारण प्राय: सदैव ये तरंगें उठा करती हैं कि सब लोग उसे सन्मानकी दृष्टिसे देखें । इसी लिये जब कभी उससे कुछ श्रेष्ठ कार्य बन जाता है तब वह उस अपने किये स्वल्प प्रशस्त कार्यको जनतामें प्रकाशित करनेके लिये आतुर रहता है । अखबार पत्रोंमें उसे महानरूप देकर प्रगट करता है । उस प्रशस्त समाचारको सुन कर जनता उस मनुष्यकी प्रशंसा करती है, उसके किये हुये शुभ कार्य की अनुमोदना करती है और शुभ कार्यकी अनुमोदनासे अपनी आत्माको पवित्र बनाती है । किन्तु उस शुभ कार्यका कर्ता प्रजासे अपनी एवं अपने किये कार्यकी प्रशंसा सुन कर फूला नहीं समाता । क्यों कि वास्तवमें जनहित बुद्धिसे नहीं किन्तु जनताकी स्तुति प्राप्त करनेके हेतुसे ही वह कार्य किया गया था । जितने प्रमाणमें तुमने अच्छा कार्य किया हो यदि उतने ही प्रमाणमें तुम्हारी स्तुति सुननेकी इच्छा रहती हो तो भी वह किसी अंशमें योग्य गिनी जाय, परन्तु जरासा कार्य कर उसे पर्वतके समान महान स्वरूपमें जनताके समक्ष प्रगट कर उससे महाकीमती प्रशंसा प्राप्त करके खुश होना, अपने आपको उस प्रशंसाके योग्य समझना यह आत्माको मलीन करनेवाला और भवान्तरमें आत्मविकासकी हानि करनेवाला है ।

यदि इस बात पर विचार किया जाय कि अपना आदर्श क्या है और उस आदर्शको प्राप्त करनेके लिये अपना कर्तव्य क्या है, तो अवश्यमेव यह जान पड़ेगा कि अपने उस उच्चादर्शके सामने जनताके स्तुति प्रशंसादि लोक

सत्कारमें कुछभी दम नहीं, उसकी कुछ कीमत ही नहीं। तब फिर दम किसमें है और किसकी कीमत है ? योग्यता प्राप्त करनेमें तथा अपने कर्तव्यको प्रेमपूर्वक पालनेमें दम है, गुणोंकी कीमत है और उनकी प्राप्तिके प्रयासमें आनन्द है। क्योंकि गुणार्जनमें वृत्ति शान्त रहती है। गुण प्राप्तिके विचारमें भी आनन्द है, गुण प्राप्त होने पर उसके अनुभवमें तो भविष्यकाल सम्बन्धी भी आनन्द समाया हुआ है। गुण-समूह यह एक महान राजा है। स्तुति प्रशंसा या लोकसत्कार उसका दास-गुलाम है।

जिस प्रकार खेती करने वाला किसान धान्य प्राप्तिका आदर्श सामने रख कर खेत जोतना, भूमि शुद्ध करके उसमें बीज बोना, अंकुर फूटने पर सर्व प्रकारसे उसके रक्षणका ध्यान रखते हुये उसकी वृद्धिके उपायोंमें लगे रहना आदि प्रवृत्ति घास प्राप्तिकी ओर लक्ष्य न देकर करता है और तथापि धान्य प्राप्तिके साथ ही उसे घास प्राप्ति भी हो ही जाती है। बस उसी प्रकार संयम धारी महात्माको गुण प्राप्तिके अपने उच्चादर्शको प्राप्त करनेके लिये सदैव अपने कर्तव्य पथ पर दृढ रहना चाहिये। तत् प्राप्ति प्रवृत्तिमें सतत प्रयास करना चाहिये। उसकी प्राप्तिके साथ ही स्तुति प्रशंसादि लोकसत्कार रूप घासकी प्राप्ति तो स्वतः ही हो जायगी॥

परिग्रहं चेद्व्यजहा गृहादे,
स्तत्किं नु धर्मोपकृतिच्छलात्तम्।
करोषि शय्योपधि पुस्तकादे—,
र्गरोऽपि नामान्तरतोऽपि हन्ता॥ २२॥

मू—गृह वगैरहके परिग्रहको तूने तज दिया है तो फिर धर्मके उपकरणके बहाने शय्या उपधि, पुस्तकादिका परिग्रह क्यों करता है? जहरको नामान्तर करने पर भी वह मारता ही है ॥

वि—महात्मन्! धन, धान्य, घर बार क्षेत्रादि स्थावर एवं जंगम मिलकतादि सर्व प्रकारके परिग्रहका तूने परित्याग किया है, महाकष्ट उठा कर अपनी तमाम निजी सम्पत्ति सम्बन्धी मोहको तूने जीता है, इस प्रकारकी स्वार्थत्याग-वृत्तिसे तू संसार समुद्रके किनारेके समीप तक पहुँचा है, अब तुझे थोडा ही मार्ग तय करना बाकी रहा है, तेरे इस सुगम मार्ग में विघ्नभूत शय्या, पुस्तक, वस्त्र पात्रादि उपकरणके मोह-रूप परिग्रह को भी त्याग दे। जब तूने घरबारादि संसार सुखका महान स्वार्थत्याग कर दिया तो फिर यह अल्प स्वार्थत्याग उसके सामने क्या चीज है? किस लिये इन तुच्छ वस्तुओं पर मोह ममत्व धारण करता है? इससे तेरी क्या आत्मसिद्धि होगी? तुझे यह न भूलना चाहिये कि यह स्वल्प मोह ममत्व भी तेरे संयम जहाजको संसार समुद्रके किनारे तक पहुँचने में बडा भारी धक्का पहुँचायगा।

मात्र स्थूल द्रव्यादिका परित्याग करनेसे निस्परिग्रही नहीं बन सकता, अत एव परिग्रहका तात्पर्य समझ लेना चाहिये परिग्रह क्या चीज है?

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो,,

शास्त्रमें मूर्च्छा को परिग्रह कहा है, एक वस्तु पर चाहे वह तुच्छ में तुच्छ है ममत्व धारण करना, उस पर मेरेपनकी बुद्धि रखना यही परिग्रह है। जिसके परित्यागसे या जिसके

वियोगसे दुःख पैदा होता हो, बस उस तुच्छ वस्तु सम्बन्धी भी मोह ममत्वका नाम परिग्रह है । अतएव पूर्वोक्त कथनसे यह नहीं समझना चाहिये कि संयम निर्वाहमें उपयोगी उपकरणों या ज्ञान संपादन करनेके साधनभूत पुस्तकादिको फेंक देनेका उपदेश किया है या उसके परित्यागका । किन्तु उन धर्मके साधनों पर जो मानसिक निर्बलताके कारण मोह ममत्व है उसका परित्याग करना चाहिये । जितने धर्मोपकरण अपने संयम निर्वाहमें खास उपयोगी हों उतने उपकरण संयम क्रियाके उपयोगी—उसके सहायक समझ कर रखनेमें कोई हानि नहीं, परन्तु उन्हें मोह ममत्वसे रखना, आवश्यकतासे अधिक रखना या उस पर अपनी मालकीयत-सत्ता समझ कर रखना यह सब कुछ परिग्रह ही है

जो मुनिराज अपने आपको शुद्ध साधु समझ कर भी गृहस्थके पास अपना ज्ञानद्रव्य रखते हैं या जो अपनी सत्ताके पुस्तक भाण्डार रखते हैं, उन्हें इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिये । किसी वस्तुको नामान्तर कर देनेसे उसके परिणाममें कदापि परिवर्तन नहीं हो सकता । मानसिक अभिप्रायमें फेरफार होनेसे ही उसके परिणाममें फेरफार हो सकता है अन्यथा नहीं ॥

धर्मके निमित्त रक्खा हुआ परिग्रह ।

परिग्रहात्स्वीकृत धर्मसाधना—
भिधानमात्रात्किमु मूढ ! तुष्यसि ।
न वेत्सि हेम्नाप्यतिभारिता तरी,
निमज्जयत्याङ्गिनमम्बुधौ द्रुतम् ॥ २४ ॥

मू—हे मूढ ! धर्मके साधनको उपकरणका नाम मात्र देकर स्वीकृत किये हुये परिग्रहसे तू क्यों खुश होता है ? क्या जानता नहीं कि यदि जहाजमें सुवर्णका भी अति भार भरा हो तो वह भी बैठनेवाले मनुष्यको शीघ्र ही समुद्रमें डुबो देता है ॥

वि—संसारमें पौद्गलिक वस्तुओंका स्वरूप प्रायः मोहक होता है । संसारके प्राणी बहुधा बाह्य सौन्दर्यप्रिय ही होते हैं, अतएव प्रथम तो इन वस्तुओंकी लालचका परित्याग ही करना महा कठिन है और यदि कभी कोई प्राणी किसी प्रासंगिक वैराग्यसे उन्हें त्याग भी दे तो उस परित्यागको उसी भावनासे जीवन पर्यन्त कायम रखना यह सचमुच आधुनिक समयमें लोहेके चने चाबनेके समान है । जिस प्रोत्साह और वैराग्य भावसे जिस लालचका आज परित्याग किया है उस उत्साह और वैराग्य भावको जीवनके हरएक प्रसंगोंमें कायम रखना यदि असंभव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य है । क्योंकि समुद्रकी तरंगोंके समान निरन्तर चंचलताको धारण करनेवाली मानसिक वृत्तिको सदैव सम रखना यह मनुष्य स्वभावसे बाहिर है । इसी कारण बहुतसे प्राणी दुःखगर्भित या मोहगर्भित क्षणिक वैराग्यसे आकर संसारके स्थूल पदार्थोंका परित्याग कर साधु मुनिराज बन जाते हैं किन्तु जीवन पर्यन्त उस पवित्र पदका वे निर्वाह नहीं कर सकते । आधुनिक समयमें जिन वस्तुओंका परित्याग किया जाता है उन्हींके प्रसंगोंमें रह कर संयम यात्रा व्यतीत करनी पड़ती है । ज्ञान वैराग्यका अभाव होनेके कारण उन लालचोंको देख मन कमजोर हो जाता है और उन द्रव्यादि

लालचोंको किसी न किसी धार्मिक बहानेसे अपने अधिकारमें रख रखा कर अपनी उस प्रतिज्ञा भ्रष्टवाली खासियतको पूर्ण किया जाता है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि जिस वस्तुका मनसा वचसा तथा कर्मणा निरावधि जीवन पर्य्यन्त परित्याग किया है उसे धार्मिक बहानेका रूप देकर या अन्य किसी प्रशस्त बहानेका रूप देकर अपने स्वाधीनमें संग्रहित करना यह वमनकृत वस्तुको चाटनेके समान है और इससे वह मुनिराज अपनी प्रतिज्ञाओंके फलको सर्वथा हार जाता है। कई दफा तो परित्याज्य वस्तुओंको धार्मिकताका रूप देनेसे वे साधुके लिये परित्याज्य हैं या नहीं इस बात पर जरा भी विचार नहीं किया जाता। अपनी असंयमी वृत्तिके अनुसार अपनी हरकतें दूर करनेका विचार अवश्य किया जाता है। बल्कि अपनी अनुकूल प्रवृत्तियोंमें ही धर्म माना और मनाया जाता है। इस प्रकार मनुष्य अपने आत्मविकासके सन्मुख होकर भी मात्र मानसिक निर्बलताके कारण अपने अमूल्य मानव जीवनको हार जाता है॥

येंऽहः कषाय कलिकर्मनिबन्ध भाजनम्,
स्युः पुस्तकादिभिरपी हितधर्मसाधनैः।
तेषां रसायन वरैरपि सर्पदामयै-
र्रार्तात्मनां गदहतेः सुखकृत्तु किं भवेत्॥ २५॥

मू० जिनके द्वारा धर्मसाधनकी इच्छा रक्खी हो उस प्रकारके पुस्तकादिसे भी जो प्राणी पाप, कषाय, क्लेश और कर्मबन्ध करते हैं तो फिर उन्हें सुखका साधन क्या हो सकता है? जिस मनुष्यकी व्याधियाँ उत्तम प्रकारके रसाय-

नोंसे भी उल्टी बढती ही जाती हों उसे व्याधिकी शान्तिके लिये क्या साधन हो सकता है ? ॥

वि० सूत्र सिद्धान्त पुस्तकादि यह प्रभुके उपदेशका संग्रह है। इस पंचम कालमें प्रभुके उपदेश वाक्योंका संग्रह आत्म-कल्याणका महान् साधन है। इन धर्मग्रन्थोंसे ही मनुष्य अपने कर्तव्याकर्तव्यको जान सकता है। बल्कि मोक्ष प्राप्तिमें जो महान् पूर्व पुरुषोंने चित्तकी निर्विकल्पता पर खास कर विशेष जोर दिया है वह भी पुस्तकोंके वाचन मनन निदि-ध्यासनसे ही प्राप्त हो सकती है। अर्थात् आत्मविकास कर-नेके लिये पुस्तक अद्वितीय साधन है। परन्तु खेदकी बात है कि आज इस आत्मकल्याणके साधनसे ही बहुतसे मुनिराज प्रत्युत अपनी आत्माको मलीन कर रहे हैं। जिन्हें अपनी प्रतिदिनकी आवश्यक क्रिया भी पूरे तौरसे नहीं आती वे बिचारे मुग्धमुनि पन्नवणा, ठाणाङ्ग, भगवती आदि महा-गहन विषयक ग्रन्थोंका संग्रह करते हैं। कितनेएक साधु तो पुस्तक संग्रहकी धुनमें अपने मूल गुणोंको भी भूल जाते हैं। जिन संस्थाओंमेंसे वे ग्रंथ मिलते हों और उनकी तरफमें प्रथम इस आशयसे कि इन महान धर्मग्रंथोंका विद्वान गीतार्थ साधुओंके लाभ लेने सिवा लोभके वश मुग्ध साधु मंगवा कर दुरुपयोग न कर सकें, यह सूचना प्रकाशित हो चुकी हो कि दश रुपये एडवेंसके देस्तर भेजनेसे मूल कीमि-तसे सब ग्रंथ मिल सकेंगे तो गीतार्थ या उन ग्रन्थोंको पढ-नेकी योग्यता धारण करनेवाले तो अभी विचार ही करते होंगे इतनेमें तो निखट्टु मुनियोंकी ओरसे उन संस्थाओंको डबल एडवेंस पहुँच जाते हैं और सदाके लिये उन्हें डबल

डबल नकलें भेजनेके लिये उनका दफतरमें नाम दाखल हो जाता है। मूर्च्छासे संग्रहित किये हुए उस पुस्तक समूहका कीड़ोंकी खोराक बननेके सिवा अन्य कुछ भी उपयोग नहीं होता। मूर्च्छासे संग्रह किये हुए पुस्तक यदि कोई योग्य साधु या विद्वान पढनेके लिये याचना करे तो अनेक प्रकारके मिथ्या बहाने निकाल कर दूसरोंको नहीं दिये जाते। जिस प्रकार बुद्धिरहित धनी मनुष्य अपनी धनसंपत्तिका न तो स्वयं ही और न दूसरोंको लाभ देकर जमीनमें गहरा गडा खोद कर उसे उसमें दावता है और उस समय यह प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! इस धनमें मैं दूसरा भले ही मिलाऊं किन्तु जिन्दगी भर इसे बाहर न निकालूं तो अच्छा हो। बस इसी प्रकार आज प्राचीन साहित्य धनभाण्डार अनेक जगह खंभातीतालोंसे बन्द किये हुए अलमारियों एवं संदूकोंमें पड़ा सड़ रहा है। किन्तु जिन महात्माओंके मातहतमें उस आत्मविकासके कारणभूत पवित्र साहित्यका यह दुरुपयोग हो रहा है यदि उनसे उस साहित्यका उद्धार करनेके लिये मांगा जाय तो वे साफ इन्कार करते हुए जरा भी न हिचकिचायेंगे। इसका प्रबल कारण सिवा मूर्च्छाके अन्य कुछ भी नहीं।

आज इस ज्ञानोदयके समयमें साधु मुनिराजोंको इस प्रकारके सुभीते प्राप्त हैं कि वे जिस गांवमें, जिस शहरमें और जिस देशमें जायँ वहाँ पर ही उन्हें पढनेके लिये पुस्तक मिल सकते हैं। परन्तु ऐसी परिस्थिति होने पर भी मुनिमहाराज पुस्तकोंकी संदूके जगह जगह रेलमें खिंचवाये फिरते हैं। जिस शहर या जिस गांवमें चातुर्मास करते हैं वहांसे जहाँ पर चातुर्मास करना होता है वहाँ पर रेल्वे द्वारा पुस्तकोंकी दश पांच संदूकें तो अवश्य आती हैं। प्रतिवर्षकी इस क्रियासे

यह परिणाम निकलता है "दमडीकी बुढिया टका सिर मुडाई" अर्थात् इतनी कीमतके वे पुस्तक भी नहीं होते जितनी कीमत उन्हें मंगवाने और भेजनेमें लग जाती है। परन्तु जब तक उन पुस्तकों सम्बन्धी ममत्व बुद्धि दूर न हो तब तक उनकी कीमतसे भी डबल तबल रेल्वे खर्चकी ओर किसका ध्यान जाय ?।

जब इस प्रकार धर्मसाधनोंका दुरुपयोग कर अपनी आत्माको एवं अपने अनुयायी समाजको हानि पहुँचाई जाती है तब फिर उपाय ही क्या किया जाय ? अर्थात् जब आत्म-कल्याणके साधनों द्वारा ही आत्मसलीनता प्राप्त की जाय तब संसार समुद्रसे पार होनेका अन्य कोई मार्ग ही नहीं रहता. ॥

रक्षार्थं खलु संयमस्य गदिता,
येऽर्था यतिनां जिनै-,र्वासः पुस्तकपात्रक प्रभृतयो,
धर्मोपकृत्यात्मकाः । मूर्छन्मोहवशात्त एव कुधियां,
संसारपाताय धिक्, स्वं स्वस्यैव वधाय शस्त्रमधियां,
यद्दुष्प्रयुक्तं भवेत् ॥ २६ ॥

मू० तीर्थंकर भगवानने वस्त्र, पुस्तक और पात्र वगैरह धर्मोपकरणके पदार्थ संयमकी रक्षाके लिये साधुओंको बतलाये हैं। तथापि मंद बुद्धिवाले मूढ मनुष्य मोहमें विशेष वशीभूत होकर उन्हें संसारमें डालनेवाला साधनभूत बनाते हैं, उन्हें धिक्कार है। मूर्ख मनुष्य द्वारा अकुशलतासे चलाया हुआ शस्त्र उसके स्वतःके विनाशका निमित्त बनता है ॥

वि—यह हकीकत मूलमें ही विशेष स्पष्ट शब्दोंमें है। यदि यह मालूम हो जाय कि, मूर्छा, यही परिग्रह है तो फिर इस विषयको विशेष चर्चनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वास्तवमें

सत्य बात तो यह है कि मनुष्य अपने कर्तव्यको भूल कर मोहविवश हो दुःख गर्भित पदार्थोंकी प्राप्तिमें सुख मानने लग जाता है। परन्तु उसे अज्ञानताके कारण यह मालूम नहीं होता कि संसारके इन विनश्वर पदार्थोंकी प्राप्तिमें नहीं किन्तु संतोषमें सुख है। **"संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्" सन्तोषी नर सदा सुखी,** इत्यादि वाक्योंसे सुखका मूल संतोष ही होता है। परन्तु मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा है कि वह बाह्य लालचोंमें पड कर मूल स्वरूपको न समझ कर संसारके विनश्वर पदार्थोंके संग्रह करनेमें ही सुखकी आशा रख कर जीवन पर्यन्त इधर उधर भटका करता है। वह बाह्य लालचोंमें फस कर अपने जीवनको उच्च और पवित्र बनानेवाली की हुई प्रतिज्ञाओंको भी भूल जाता है। इस संसार समुद्रमें जीवन जहाजको ले उतर पड़ना तो बड़ा सुगम और सहज है, लेकिन अनेक प्रकारके लालचरूप विघ्नोंका सामना कर के बराबर सीधे मार्गसे उस पार तलक लेजाना बड़ा ही कठिन काम है। बड़े बड़े त्यागी वैरागी महात्माओंका भी इस महा भयंकर समुद्रमें जहाज डूब गया है। कोई विरला ही इस संसाररूप महासागरके इस विषम मार्गको तय कर उस पार पहुँचता है। इस लिये महात्मन्! तू भी आज इस महा भयंकर संसार सागरसे पार होनेके लिये सर्वज्ञ देव-कथित संयमरूप जहाजका आलम्बन ले इसमें कूद पड़ा है। अतएव तुझे सदैव बड़ा सावधान रहनेकी आवश्यकता है। जिस मार्गसे ले जानेकी तूने प्रतिज्ञा की है यदि बराबर उसी मार्गसे अपने जीवन जहाजको ले जायगा तो अवश्य तू इस महासागरके उस पार अपने इष्ट स्थान पर पहुँच सकेगा और यदि प्रमादके वश हो जरा भी इस मार्गसे इधर, उधर

हुआ तो समझ लेना कि तेरा जहाज इस महासागरमें ही डूब जायगा और फिर तुझे कोई सहाय करनेवाला भी न मिलेगा ॥

संयमोपकरणच्छलात्पराम् ,
भारयन् यदसि पुस्तकादिभिः ।
गोखरोष्ट्रमहिषादिरूपभृत्,
तच्चिरं त्वमपि भारयिष्यसे ॥ २७ ॥

मू० संयमोपकरणके बहानेसे तू पुस्तक वगैरह वस्तुओंका भार दूसरों पर लादता है, परन्तु वे बैल, गधा, ऊंट, भैंसा आदिके रूप धारण करा कर चिरकाल पर्य्यन्त तुझसे भार वहन करायेंगे ॥

वि—संयमके उपकरण ग्रहण करनेका उद्देश भूल जानेके कारण उन पर ममत्व होनेसे मुनिराज उन वस्तुओंका अति-संग्रह करने लगता है । चारित्रके उपकरणोंके बहानेसे ममत्व वश गृहस्थोंसे अपनी उपयोगितासे अधिक वस्त्र, पात्र, पुस्तकादिका संग्रह कर लेता है और जब विहार करनेका समय आता है तब उन वस्तुओंको साथ लेचलनेके लिये गाडी वगैरह की जरूरत पड़ती है । इससे अपने निमित्त दूसरोंसे भार उठवा कर उन्हें पीड़ा पहुँचानेका प्रसंग आता है और उन उपकरणोंकी मूर्च्छासे परिग्रहरूप दूषण लगता है सो जुदा ।

जिस समय मुनि सुन्दरसूरिमहाराजने इस ग्रन्थकी रचना की है उस समयकी परिस्थितिका बराबर अनुभव न होनेके कारण यह कहा जा सकता है कि उस समयमें हर-एक जगह वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि संयमीय उपकरणोंका

मिलना मुनिओंके लिये दुर्लभ होगा, परन्तु आज तो हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि इस समय इस प्रकारका सुभीता है कि जैन मुनिराज जहाँ पधारते हैं वहाँ ही वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि धर्मोपकरण अनायास ही मिल सकते हैं, तथापि मोहके वश होकर हमारे पूज्य मुनिराज हजारों लाखोंके पुस्तक खरीद कर अपने नामांकित सिक्के उन पुस्तकों पर लगा कर अपने नामके भाण्डार तैय्यार कराते हैं। चातुरमास बैठते समय डेढ दो वर्षके लिये काफी हों इतने बढ़ियासे बढ़िया बारीक और बहुमूल्य कपड़ोंकी पोटलियें—चीटिये बांध रखते हैं। पात्रोंकी जोड़ एक तो सदैव पास रहती ही है, एक दो और भी चातुर्माससे नवीन रंग कर तैयार करके रखली जाती हैं। प्रातः और संध्या कालके समय शरीरके संस्पर्शसे अपकायके जीवोंका विनाश न हो इस लिये उस समय एक साधारण ऊनी वस्त्र रखनेके बदले आज ५०–६०–१००–१२५ रुपये तकके अलवान—सुफेद दुशाले रखनेमें आते हैं। यह सब कुछ मोह विवश नहीं तो और इसका क्या कारण है ?

विचार करना चाहिये, कि इस प्रकारकी आचरणाओंसे अपने आपको शुद्ध संयमी—सच्चे साधु माननेवाले उस पवित्र साधुपदसे कितनी दूर हैं। अतः सच्चा साधुपद प्राप्त करनेकी इच्छा वाले संयमीको चाहिये कि जितनेमें अपने संयमका निर्वाह हो सकता हो और जो संयमके उपयोगी वस्तु जगह जगह मिल सकती हो उसे उपयोगमें आवे उससे जरा भी अधिक अपनी मालकीयतकी ले कर न रखना, ताकि उसके रक्षणकी चिन्ता तथा दूसरोंसे अपने साथ उठवानेके पापमें पडना न पड़े।

वस्त्रपात्रतनुपुस्तकादिनः,

शोभया न खलु संयमस्य सा।

आदिमा च ददते भवंपरा,

मुक्तिमाश्रयतदिच्छयैकिकाम् ॥ २८ ॥

मू० वस्त्र, पात्र, शरीर या पुस्तकादिकी शोभासे संयमकी शोभा नहीं होती। प्रथम प्रकारकी शोभा भववृद्धि देती है और दूसरे प्रकारकी शोभा मोक्ष देती है, अतएव दोनोंमेंसे जो तुझे पसंद हो उस एकका आश्रय कर, किंवा वस्त्र, पात्र पुस्तक शरीर वगैरहकी शोभाका परित्याग कर ॥

वि—शोभा दो प्रकारकी होती है। एक तो आत्मीय शोभा और दूसरी अनात्मीय। आत्मीय शोभाको अभ्यन्तर और अनात्मीयको बाह्य शोभा कहते हैं। आत्मीय गुणोंका विकाश करनेवाली शुभ प्रवृत्तिकी ओर दुर्लक्ष कर मात्र वस्त्र, पात्र, शारीरिक शोभा वगैरहको बाह्य शोभा कहते हैं और शरीर ढकनेके लिये चाहे जैसा फटा पुराना या मोटा वस्त्र धारण कर तथा उसपर सूक्ष्म ममत्व भी न धारण कर और बन सके उतना अल्प वस्त्रमें निर्वाह करनेकी वृत्ति रख कर, शरीर यह एक आत्मीय गुणोंके विकाशका साधनभूत है अतएव इसे टिका रखनेके लिये भोजन ग्रहण करनेकी आवश्यकता है, तदर्थ नवा पुराना चाहे जैसा पात्र हो इस भावनासे निर्ममत्वतया जैसा मिले वैसा पात्र रख कर, शरीर सम्बन्धी किसी भी प्रकारका मोह ममत्व न रख कर मात्र आत्मीय गुणोंके विकासार्थ दत्त चित्त होकर शुभ प्रवृत्ति करना इसे अभ्यन्तर शोभा कहते हैं। संसारमें परिभ्रमण करानेवाली बाह्य शोभाका परित्याग कर अभ्यन्तर शोभा प्राप्त करना साधु मुनिराजका परम कर्तव्य है। भावना सहित सतरह प्रकारका संयम या चरण-सत्तरी

और करण सत्तरीका पालन करनेसे अभ्यन्तर शोभा प्राप्त की जाती है। साथमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ पर बाह्य शोभा प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है वहाँ पर अभ्यन्तर शोभा प्राप्त हो ही नहीं सकती, अतएव अभ्यन्तर शोभा प्राप्त करनेके लिये बाह्य शोभाका परित्याग करना ही चाहिये।

कितने एक व्यवहार दृष्टिवाले कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन, चारित्रके उपकरणोंको परिग्रह नहीं कहा जा सकता। इस पर जरा विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम होगा कि ज्ञान, दर्शन, चारित्रके उपकरणोंको यदि संयम साधनके तोर पर अंगीकार किया जाय और वे भी आवश्यकतानुसार ही रक्खे जायँ तो वह परिग्रह नहीं हो सकता, उससे परिग्रहजन्य दोष नहीं लग सकता। किन्तु जब संयम साधनकी दृष्टि दूर कर मात्र मोहविवश उनका संग्रह किया जाता हो तो अवश्य वे ज्ञान, दर्शन, चारित्रके उपकरण भी परिग्रह जन्यदोषमें दूषित करते हैं। उन वस्तुओं पर साक्षी भूतपनकी दृष्टिसे उपरान्त मालिक पनकी दृष्टि होते ही वे परिग्रहका रूप धारण कर लेते हैं। ज्ञान दर्शन चारित्रके उपकरण संयमको पुष्टि-कारक होनेके कारण साधुपनका रक्षण करनेके लिये, मोह सुभटको परास्त करनेके लिये शस्त्रके तोर पर ग्रहण किये जाते हैं, इससे विपरीत यदि वे ही साधन साध्यकी हानि करनेवाले, संयमका विनाश करनेवाले हो जायँ तो फिर साध्यके सिद्ध होनेकी कोई संभावना ही नहीं रहती। यद्यपि घरबार, धन धान्य, स्त्री वगैरहका परित्याग करना बड़ा कठिन काम है, तथापि इन सर्व वस्तुओंको त्याग कर वस्त्र, पात्र, पुस्तक वगैरह धर्मोपकरणों पर ममत्व भाव रखना यह बड़ी भारी मानसिक निर्बलता है और इसके परिग्रहसे

भी कुछ कम हानि नहीं होती। यदि इस तरफ ध्यान दिया जाय तो घरबार, धन धान्य, पुत्र पुत्री, स्त्री वगैरह कुटुम्ब परिवारका त्याग करनेवाले मुनिराजके लिये पूर्वोक्त धार्मिक उपकरणोंका ममत्व जीतना कुछ बडी बात नहीं है। उच्च गुणाभिलाषी महामुनिराजको पूर्वकालमें हो गये हुए परम त्यागी वैरागी महात्माओंकी ओर दृष्टि पात करना चाहिये। परम त्यागी महामुनिराजोंमें अन्तिम दो मुनिराज हो गये हैं। श्रीमद् आनन्दघनजी, तथा श्रीमत् चिदानन्दजी महाराज। इन दोनों महात्माओंको जैन समाज भली प्रकार जानता है। वास्तवमें ये दोनों महापुरुष साधुपदको शोभित करने योग्य त्यागकी मूर्ति थे। अतः उनका स्मरण होते ही त्यागकी—अपरिग्रहकी मूर्ति सामने खडी हो जाती है।

जो धर्मके बहाने संसारके भोग विलासके साधनोंको इकट्ठे करते हैं वे बिचारे संसार समुद्रके किनारे तक पहुँच कर गले में पत्थर बांध कर पुनः भवसागरमें पडते हैं। इस दश बीस वर्षकी जिन्दगीके लिये विनश्वर अनिश्चित विलासी साधनोंका संग्रह कर या रातदिन उसी ओर मनोवृत्ति रख कर अनन्त काल पर्यन्त दुःखानुभव करना पडे इस प्रकारके कठिन कर्म उपार्जन करते हैं। ऐसे मुनियोंको श्रीयशोविजयजी महाराजका यह कथन स्मरण रखना चाहिये कि

सुखिनो विषयातृप्ता, नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो।
भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः॥

इन्द्र उपेन्द्रादि भी विषयों—सांसारिक वासनाओंसे तृप्त होकर सुखी नहीं हुए। याने देव देवेंद्र तकके भोग विलासोंमें भी सुख प्राप्त नहीं होता, किन्तु संसारमें ज्ञानसे तृप्ति

करनेवाला, अपरिग्रही निःसंग भिक्षु मुनिराज ही सुखी है।

परिषह सहन—संवर।

शीतातपाद्यान्न मनागपीह,
परीषहांश्चेत्क्षमसे विसोढुम्।
कथं ततो नारक गर्भवास—
दुःखानि सोढासि भवान्तरे त्वम् ॥२९॥

मू० इस भवमें जरा भी शीत, ताप वगैरह परीषह सहन करनेको शक्तिमान नहीं होता तो फिर भवान्तरमें नरक और गर्भवासके दुःखोंको तू किस तरह सहन करेगा?

वि—संसारमें मोक्ष प्राप्तिके लिये सबसे उच्च कोटिका और सब मार्गोंमें सीधा मार्ग मुनिजीवन है। इस मार्ग द्वारा ही आत्मा शीघ्रतया अपनी अनन्त, अक्षय संपूर्ण शक्तिको प्राप्त कर सकती है। यह तो सिद्ध ही है कि जो मार्ग मुकाम पर जल्दी पहुँचने का होता है, वह जरा विकट कठिन होता है। उस मार्गमें गमन करनेवाला निर्भय सुभट होना चाहिये। यदि उस मार्गमें आनेवाली कठिनाइयों के भयसे वह पथिक दूसरा ही मार्ग अंगीकार कर ले और उस मार्गसे अपने इष्ट स्थल पर पहुँचनेका प्रयत्न जारी रक्खे तो यह कहा जा सकता है कि उसको उस विकट मार्गसे गमन करनेकी ताकत न होनेके कारण उसने अपने इष्ट स्थान पर पहुँचनेको लंबे मार्गका आश्रय लिया है। परन्तु जो उस कठिनाइयां पूर्ण मुनिमार्ग पर आरूढ हो कठिनाइयोंके भयसे मार्ग तय करनेका प्रयत्न ही नहीं करता, उन कठिनाइयोंका सामना नहीं करता, उनसे जी चुराता है और उस कठिन

मार्गका आश्रयी कहला कर लोगोंसे तद्योग्य मान सन्मान और अनेक प्रकारकी वस्तुयें ग्रहण करता है, उसका प्राप्तव्य-स्थान उसकी कल्पित की हुई मंजिलसे सैकडों कोस दूर होता जाता है। अर्थात् उस मुनिका जो अपने अंगीकृत मार्गकी कठिनाइयोंसे मुह चुराता है, भवभ्रमण अधिक होता जाता है।

जिससे नवीन कर्मोंका आगमन रुकता हो उसे शास्त्रकार संवर कहते हैं। आत्मस्वभावसे विपरीत विभाव दशामें मनोवृत्ति बहुधा अधोमार्गमें ही गमन करती है, क्योंकि मनोवृत्ति पर विशेषतः राग द्वेषादिका ही अधिकार होता है। इस लिये प्रतिकूल संयोगोंके उपस्थित होने पर मानसिक वृत्तिको समान रखने के लिये राग द्वेषादि आन्तर शत्रुओं पर संजय प्राप्त करना, आत्माको हानि पहुँचानेवाले उनके कार्यको रोकना यह संवरका कार्य है और विशेषतः वह परीषहोंके जीतने-उन्हें सहन करनेसे प्राप्त हो सकता है॥

विनश्वरदेहका सार तपजप करना है।

> मुने ! न किं नश्वरमस्वदेह—,
> मृत्पिण्डमेनं सुतपोव्रताद्यैः।
> निपीड्य भीतिर्भवदुःखराशे—,
> र्हित्वात्मसाच्छैव सुखं करोषि ॥ २० ॥

मू०—मुने! यह शरीररूप मृत्पिंड नाशवन्त है, अतएव अनेक प्रकारके उत्तम तप और व्रतादि द्वारा इसे पीड़ा दे कर अनन्त भवोंमें होनेवाले दुःखोंको दूर करके मोक्ष सुखको अपने स्वाधीन क्यों नहीं करता ?॥

वि० जिस शरीरकी चापलोसीमें रातदिन लगे रहते हैं, जिसे प्रतिदिन बढ़िया साबुनसे मसल मसल कर धोते हैं, जिसके जरा भी अनारोग्य हो जाने पर आरोग्यता प्राप्तिके लिये हजारों रूपया वैद्य और डाक्टरोंको देते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाते, जिसकी शोभाके लिये न पहिनने योग्य विदेशी वस्त्र पहिनते हैं, और भी अनेक प्रकारकी जिसकी सेवा शुश्रूषा करते हैं, वह विनश्वर देह एक रोज मट्टीमें मिल जानेवाला है। जिस मट्टीसे नफरत करते हैं अज्ञानी प्राणी उसी मट्टीके पुतलेको अपना सर्वस्व समझ कर उसकी यहाँ तक चापलोसी करते हैं कि आत्मोद्धारके साधन भूत धर्मकर्ममें भी उसे जरा तकलीफ नहीं देते। इस दुर्गन्धपूर्ण शरीरकी सार्थकता किस प्रकार हो सकती है, इससे क्या करना है इत्यादिके ज्ञानसे वंचित हो मुग्ध प्राणी अपने अमूल्य जीवनको व्यर्थ ही खो जाते हैं। पूर्वोक्त प्रकारसे अनेक तरहकी अशुचिका पात्र होने पर भी तथा विनाशी स्वभाववाला होने पर भी यह नरदेह आत्मविकाशके लिये अद्वितीय साधन है। आत्मोत्क्रान्तिके लिये, आत्माकी सर्वोत्कृष्ट संपूर्ण शक्तियाँ संपादन करनेके लिये प्रथम साधन मानव देह ही है। इस प्रथम साधनके बगैर अन्य तमाम साधन व्यर्थ हैं। कहा है कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

यदि मानव शरीरको प्राप्त करके प्राणी उसे आत्मोन्नतिका साधन तरीके समझ कर उससे अपने साध्यकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करे तो ही यह नरदेह धारण किया हुआ सफल और सार्थक हो सकता है। यदि इसे मात्र भोग विलासका साधन समझ कर आत्माको मलीन करनेवाली विषय वासनाओंकी पूर्तिकी प्रवृत्तिमें ही प्रवृत्त किया जाय तो समझ लेना चाहिये

कि आत्मोद्धारका यह आद्य साधन आत्माकी अधोगतिका भी आद्य साधन बन जाता है। यदि इस शरीरसे तप, जप, शीलादि शुभ प्रवृत्ति न की जाय तो यह मट्टीका पुतला एक दिन भस्म हो कर खाकमें मिल जानेवाला है, इसकी प्राप्तिसे कुछ भी लाभ नहीं। "असारात्सारमुद्धरेत्" इस कहावतके अनुसार इस असार विनश्वर देहसे आत्मसिद्धिकी साधना रूप सार ग्रहण करना यही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

इस लिये मुनिवर! इस क्षणभंगुर शरीर पर ममत्व न रख कर इससे परम पद प्राप्तिका मुख्य कारण चारित्रके पालनेमें बराबर काम ले ताकि यह सार्थक हो॥

। चारित्रके कष्ट और नरक तिर्यंचादिके कष्टोंमें विपक्षता।

यदत्र कष्टं चरणस्य पालने,
परत्र तिर्यङ्नरकेषु यत्पुनः।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता,
विशेषदृष्ट्यान्यतरं जहीहि तत्॥ २१॥

मू० चारित्र पालनेमें इस भवमें जो कष्ट पड़ता है और परभवमें नारकी तथा तिर्यंच गतिमें जो कष्ट भोगना पड़ता है उन दोनोंमें परस्पर प्रतिपक्षी पना है। अतः विवेकबुद्धि-द्वारा उन दोनोंमेंसे एकका परित्याग कर दे॥

वि० यद्यपि संसारी मनुष्योंके जीवनकी अपेक्षा साधु-जीवन कष्ट साध्य है, परन्तु आत्मीय स्वरूप सिद्ध करनेके लिये स्व वशतामें सहन किया हुआ यह कष्ट पशुजीवनके तथा नारकी जीवन के कष्टोंके सामने कुछ हिसाबमें ही नहीं।

एक मनुष्यके पैरमें कांटा लगा हुआ है, वह उस कांटेको

निकलवाता है, उस समय उसे कष्ट होता है, किन्तु उस कष्टको वह जान बूझ कर सहन करता है। इसका कारण यही है कि कांटा निकलवाते समय होनेवाला दुःख कांटा न निकलवालेसे पैर पक जाने पर नश्तर लगवानेके समय होनेवाले दुःखके सामने कुछ हिसाबमें ही नहीं। अर्थात् भावी कालमें परवशतामें आनेवाले महान दुःखको दूर करनेके लिये ही यहाँ पर स्ववशतामें साधु जीवनके योग्य स्वल्प कष्टको कष्ट न समझ कर सहन करना चाहिये। यदि साधु जीवन सम्बन्धी कष्टानुष्ठानको कष्ट समझ कर उससे मुँह चुराया जाय तो भवान्तरमें परवशतामें नारकी और पशु-गतिजन्य घोर दुःखोंको अवश्य सहना ही पड़ेगा।

संसारमें प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो विद्यार्थी स्कूल या कालेजमें अथवा अन्य किसी संस्थामें अनेक प्रकारकी शिक्षायें कलायें सीखते हैं उस समय उन्हें उस विद्यार्थि अवस्थामें अनेक प्रकारके कष्टोंका सामना करना पड़ता है, परन्तु अपने उद्देशको सिद्ध करलेने पर वे जीवन पर्यन्त उस कष्टसाध्य शिक्षासे सुख भोगते हैं। जो उस अभ्यास करनेके समय उस जरासे कष्टसे खिन्नचित्त होकर घर बैठ रहते हैं वे भविष्यमें अपनी मूर्खताके कारण जिन्दगी पर्यन्त दुःख भोगते हैं, अपना पेट भरनेके लिये भी वे दूसरोंका मुँह ताकते हैं और विद्याभ्यास कालमें किये हुये अपने प्रमादको स्मरण कर रातदिन पश्चात्ताप करते हैं। **साधक अवस्थामें कष्ट उठाये विना कदापि सिद्ध नहीं बन सकता।**

चारित्र ग्रहण कर उसके पालनेमें प्रयत्न न करना, उसमें अनेक प्रकारका दूषण सेवन करना यह भवान्तरमें

पशुगति आदि नीच गतिओंके घोर दुःखोंको स्वीकृत करना है। पशुगतिमें भार वहन करना पड़ता है, घोड़ा बन कर ट्राम आदि गाडियें खींचना पड़ता है। बैल बन कर हल खींचना पड़ता है, गाड़ीमें जुड़ना पड़ता है। ग्रीष्मकालका ताप सहना पड़ता है, पावस कालीन पीडायें सहनी पड़ती हैं, शीतकालीन पीड़ायें सहनी पड़ती हैं। और भी भूख प्यास, खस्सी करना, नाक कान आदिका छेदन वगैरह अनेक प्रकारके घोर दुःखोंका अनुभव करना पडता है। यह सब कुछ पराधीनतामें सहना पडता है। यदि मर कर कहीं जंगली पशुका जन्म उदय आया तो वहाँ पर अपनेसे बलीष्ठ स्वजातीय पशुओंका और जातीय बैरवाले विजातीय पशुओंका रातदिन भय रहता है। पेट भरनेकी चिंतायें रहती हैं। यह सब कुछ भवान्तरमें सहनेका प्रसंग आयगा। यहाँ पर साधु जीवनमें साधारणतः गृहत्याग, परिग्रहत्याग, स्वादिष्ट भोजन परित्याग, पंच महाव्रत पालन, अप्रतिबद्ध विहार, भूमि शय्या वगैरह कायक्लेशादि दुःख सहने पडते हैं। इन दो प्रकारके दुःखोंमेंसे एक तरहका दुःख तो अवश्य ही सहना होगा। यदि भावी कालीन घोर दुःखोंसे बचना हो तो इस समय प्राप्त किये हुये साधुपनमें दूषण न लगा, उसे पालन करनेमें यत्किंचित् कष्ट सहना पडता है उसे खुशीसे अपना कर्तव्य समझ कर सहन कर। यदि इस जरासे कष्टसे डर कर अंगीकृत चारित्रको भली प्रकार न पालेगा, उसमें दूषण लगायगा तो भविष्य कालीन घोरातिघोर दुःखोंको अवश्य ही सहना होगा।

प्रमादजन्यसुख और मुक्तिसुखमें विपक्षता ।

शमत्र यद्बिन्दुरिव प्रमादजं,
परत्र यच्चाब्धिरिव द्युमुक्तिजम् ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता,
विशेषदृष्ट्यान्यतरद् गृहाण तत् ॥ ३२ ॥

मू० इस भवमें प्रमादजन्य जो सुख होता है वह बिन्दु समान है और परभवमें देवलोक सम्बन्धी तथा मोक्ष सम्बन्धी जो सुख होता है वह समुद्र समान है । इन दोनों सुखोंमें परस्पर विपक्षता है, अतः विवेक बुद्धि द्वारा इन दोनोंमेंसे एकको ग्रहण कर ॥

वि० जिस प्रमादजन्य सुखके लिये मनुष्य अपने कर्तव्यसे परांमुख हो अनेक प्रकारके दोष सेवन करता है और उन दोषों द्वारा अपनी आत्माको मलीन करता है वह सुख बिजलीके चमत्कारके समान क्षणिक है । उस सुखके भीतर छिप कर दुःख रहा हुआ है, वह अज्ञानताके कारण अभी देख नहीं पड़ता, किन्तु उस प्रमादजन्य सुखके अन्तमें वह विकराल रूप धारण कर प्रत्यक्ष मनुष्यके सामने आ खड़ा होता है । उस समय उसको अवश्य ही उसका सामना करना पड़ेगा और उससे पराजित होना पड़ेगा ।

इससे प्रत्युत प्रमाद न करनेसे—अपना कर्तव्य यथार्थतया पालन करनेसे स्वर्गसुख तथा मोक्षसुख चिरस्थायी और अनन्त गुणाधिक है । यद्यपि स्वर्गसुख बहुतसे समयके बाद मुँह छिपाता है, परन्तु निरतिचार चारित्र—निर्दोषतया कर्तव्य पालनेसे जो मोक्षसुख प्राप्त होता है वह अनन्त काल-

पर्यन्त स्थायी याने वह प्राप्त होकर कभी भी नष्ट नहीं होता। मोक्ष सुखरूप देवके साम्राज्यमें आत्माको किसी भी कालमें दुःखरूप राक्षसका दर्शन तक नहीं होता। इस दोनों प्रकारके सुखोंमें परस्पर विपक्षता है। जहाँ प्रमादजन्य सुख है वहाँ पर स्वर्ग या मोक्षसुख नहीं हो सकता और जहाँ पर स्वर्ग या मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है वहाँ पर प्रमादजन्य सुख रूप खद्योत मोक्षस्वरूप सूर्यके प्रकाशमें आँखें मीच कर भाग जाता है। इस लिये महात्मन्! आपको इन दोनों विपक्षी सुखोंमेंसे जो सुख मंजूर हो उसे विवेक बुद्धि द्वारा समझ कर ग्रहण कर ॥

चारित्रनियंत्रणाका दुःख और गर्भवासादिका दुःख

निग्रन्त्रणा या चरणेऽत्र तिर्यक्-,
स्त्रीगर्भकुम्भीनरकेषु या च।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षभावात्,
विशेषदृष्ट्यान्यतरां गृहाण ॥ २२ ॥

मू० इस भवमें चारित्र पालनेमें जो गुरु पर नियंत्रणा होती है और परभवमें स्त्रीके गर्भमें या तिर्यंच गतिमें अथवा नारकीके कुम्भीपाकमें जो नियंत्रणा (पराधीन कष्ट) होती है, इन दोनों नियंत्रणाओंमें परस्पर विरोध है अतः विवेक बुद्धि द्वारा दोनोंमेंसे एक ग्रहण कर ॥

वि० साधुजीवनमें पंच महाव्रत पालनरूप तथा वीतराग सर्वज्ञ प्रभुके कथनानुसार गुरुमहाराजकी आज्ञायें पालनरूप कुछ कष्ट सहना पड़ता है। इस कष्टको सहन करनेसे भवान्तरमें चिरकाल पर्यन्त देव देवेंद्रोंकी पदवीके सुख प्राप्त

होते हैं। साधुजीवनके योग्य पंच महाव्रतादिका सर्वज्ञ देवके कथनानुसार पालन न किया जाय, साधुपनके उचित क्रियानुष्ठानजन्य कष्टसे कायर बन कर उसे न पालन करनेसे भवान्तरमें तिर्यंच गतिमें गर्भावास सम्बन्धी तथा नरक गतिमें कुंभीपाक आदि अनेक प्रकारके कष्टोंको करोड़ों, अबजों, संख्यात तथा संख्यातीत वर्षों पर्यन्त सहन करना पड़ेगा। इस लिये वर्तमान कालीन सुखदुःखका ख्याल छोड़ कर परिणाममें आनेवाले सुखदुःख पर विचार करके भवान्तरमें आते चिरकाल पर्यन्त सुख देनेवाले परम पवित्र साधुपनके योग्य महाव्रत पालनादि इस अल्प कष्टको अपना कर्तव्य समझ कर सहन कर और उन सुखदाई व्रतपालनादि धर्मक्रियाओं पर सर्वज्ञ देवके कथनानुसार श्रद्धा रख ॥

परीषह सहन करनेका उपदेश।

सह तपोयमसंयमयन्त्रणां,
स्ववशतासहने हि गुणो महान्।
परवशस्त्वति भूरि सहिष्यसे,
न च गुणं बहुमाप्स्यसि कञ्चन ॥ २४ ॥

मू० तू तप यम और संयमकी नियंत्रणा सहन कर, अपने वश रह कर (परीषहादिका कष्ट) सहन करनेमें महान् गुण है। परवशतामें बहुत दुःख सहना पड़ेगा, उसका कुछ भी फल नहीं ॥

वि० बारह प्रकारका तप कहा है। जिसमें ६ बाह्य और ६ अभ्यन्तर कहलाता है। बाह्य तपमें उपवासादिका समावेश होता है और अभ्यन्तर तपमें मूलसे हुए दुरितों—पापोंके

प्रायश्चित्तका समावेश होता है। यम पाँच हैं, अहिंसा पालन, सत्य वचन उच्चार, अस्तेय–चोरी परित्याग, अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन, और तमाम वस्तुओं परसे मूर्च्छा–ममत्व परित्याग। अर्थात् पंच महाव्रतों या पंच अणुव्रतोंका पालन करना इसे ही पांच यम कहते हैं। संयम सतरह प्रकारका है, ऊपर कथन किये हुए पांच महाव्रतों का आचरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायोंका परित्याग. मन, वचन और शरीर सम्बन्धी अशुभ प्रवृत्ति पर अंकुश रखना या उसका निरोध करना और पाँचों इन्द्रियोंका दमन करना। यह सतरह प्रकारका संयम है। इन तप, यम और संयमको पालन करनेमें जो बाह्य कष्ट पड़ता है, उसे यंत्रणा कहते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त तप यम, संयमके पालनेमें कुछ कष्ट अवश्य पड़ता है, परन्तु परिणाममें महान् सुख देनेवाला होनेसे वह कष्ट अपने आप ही अंगीकार किया हुआ है। यदि इस धर्मकर्मजन्य स्वल्प कष्टको भविष्यमें महा फल प्रदायक समझ कर सहन शीलतासे सहा जाय तो इस कष्ट सहनेमें भी आनन्द मिल सकता है और चित्तको शान्ति प्राप्त होती है। चाहे जैसा महान् कष्ट क्यों न हो यदि उसे स्ववशतासे सहन किया जाय तो वह बिलकुल तुच्छ मालूम होता है और यदि परवशतासे जरा सा भी कष्ट सहना पड़े तो वह पर्वतके समान महान रूप धारण किये देख पड़ता है। भर्तृहरि कहते हैं कि–

अवश्यं यातार श्चिरतरमुषित्वापि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातंत्र्याद्तुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनंतं विदधते'॥

बहुत समय तक रखने पर अन्तमें तो विषयभोग जाने-वाले ही हैं। यदि मनुष्य उन्हें अपनी इच्छासे न त्याग देतो भी उनका वियोग तो अवश्य ही होगा। अर्थात् मनुष्य अपनी इच्छासे उनका परित्याग न करे तो अन्तमें वे ही मनुष्यका परित्याग कर देते हैं और उस समय मनुष्यके हृदय पर वे गाढ़ा शोककी घनघटा छोड़ कर जाते हैं। मनुष्य विषय भोगोंकी विनश्वरताको समझ कर उन्हें स्वयं ही त्याग दे तो उसे बहुत कुछ शान्ति प्राप्त होती है, यह बात तो अनुभव सिद्ध ही है।

जो मनुष्य सदैव इंद्रियोंके विषयोंमें मशगूल रहता है, वृद्धावस्थामें शरीर निर्बल होजाने पर उसे भी विषयोंका परित्याग करना पड़ता है, परन्तु पूर्वकी तीव्र इच्छा होनेके कारण उस असक्त अवस्थामें भी उसकी बालचेष्टायें नहीं जातीं। वृद्धावस्था प्राप्त होने तक भी इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन रहनेके कारण ही यह हास्यास्पद स्थिति प्राप्त होती है। यदि वृद्धावस्था प्राप्त होनेसे पहिले ही विषयोंका परित्याग किया जाय तो अन्तमें परितापके बदले आनन्दका अनुभव होता है।

इस भवमें दश वीस पचीस या पचास बरस संयम पालन कर स्ववशतामें जो आत्मविभूति प्राप्त होती है, उसका फल जब चिरकाल पर्यन्त स्वर्गसुख किंवा अनन्त काल पर्यन्त मोक्षसुख प्राप्त होता है तब अनुभवमें आता है। इससे प्रत्युत संयम पालनेमें जो प्रमाद सेवन किया जाता है, जानबूझ कर भी दोष सेवन किया जाता है, उसका फल पूर्वोक्त मुजब पर भवमें परवशतामें अत्यन्त दुःख सहन

करना पड़ता है। इस लिये संयम सम्बन्धी परीषहोंके सहनेमें भावी महान् लाभ समझ कर स्ववशतासे उन कष्टोंको सहर्ष सहन कर और शुद्ध वर्तन रख कर तप, जप, ध्यान, संयम, इन्द्रिय दमन वगैरहमें विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है और प्रमादका सर्वथा परित्याग करनेकी जरूरत है ॥

परीषह सहनेका शुभ फल।

अणीयसा साम्य नियन्त्रणा भुवा,
मुनेऽत्र कष्टेन चारित्रजेन च।
यदि क्षयो दुर्गतिगर्भवासगा—
सुखावलेस्तत्किमवापि नार्थितम् ॥ ८५ ॥

मू० समतासे और नियंत्रणा (परीषह सहन) से उत्पन्न हुए थोडेसे कष्ट द्वारा एवं चारित्र पालनेसे उत्पन्न हुए थोडेसे कष्ट द्वारा यदि दुर्गतिमें जानेकी और गर्भावासमें रहनेकी परंपराका नाश हो जाता हो तो फिर तूने क्या इच्छित प्राप्त नहीं किया ? ॥

वि० समता सर्वसुखोंकी जननी है, उसे प्राप्त करनेमें मनोनिग्रह वगैरहके करनेकी आवश्यकता पडती है। समता आत्मीय धर्म होनेके कारण उसमें नाम मात्र भी कष्टका अनुभव नहीं होता। उसकी प्राप्तिमें एवं इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिका परित्याग करनेमें आत्मीय सहज स्वरूपकी ओर रुचि बढती है और परम आनन्द व शान्तिका अनुभव होता है, एवं संकल्प रूप दाहजन्य कष्टसे मुक्ति मिलती है।

चारित्रके पालनेमें यद्यपि बाह्य कष्ट कुछ अवश्य सेवन करना पड़ता है, परन्तु उसके मुकाबलेमें आत्मसंतोष

अपरिमित है, इस लिये चारित्रजन्य कष्ट कष्टकी दृष्टिसे कुछ भी कष्ट नहीं है। तथापि यदि इस जरासे कष्टसेवनसे भवान्तरीय महा कष्टोंकी परंपरा नष्ट होजाती हो, तिर्यंचादि गतियों सम्बन्धी दुःख संतति मिट जाती हो तो फिर इससे अधिक और क्या चाहिये ?

शास्त्रकार जगह जगह यह उपदेश देते हैं कि समतायुत चारित्र पालनेसे अवश्यमेव दुर्गतिका नाश होता है। अर्थात् भवान्तरमें सद्गतिकी प्राप्ति होती है तथा परमपद मोक्षका अक्षय अनन्त सुख प्राप्त होता है, इस लिये तदनुसार आचार रखना चाहिये ॥

परीषह न सहनेका फल ।

त्यज स्पृहां स्वःशिवशर्मलाभे,
स्वीकुरुष्व तिर्यङ्नरकादि दुःखम् ।
सुखाणुभिश्चेद्विषयादिजातैः,
संतोष्यसे संयमकष्टभीरुः ॥ ३६ ॥

मू० संयम पालनेके कष्टसे डर कर विषय कषाय द्वारा होनेवाले अल्प सुखमें यदि सन्तोष पाय तो फिर तिर्यंच, नारकीके आगामी दुःखोंको स्वीकारले और स्वर्ग तथा मोक्ष सुखकी प्राप्तिकी इच्छा छोड़ दे ॥

वि० पूर्वोक्त अर्थको ही शास्त्रकार व्यतिरेकतया कहते हैं। हे मुने ! यदि तुझे संयम पालनेमें-जिसमें कुछ कष्ट नहीं है कष्ट मालूम होता हो और इन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें सुख मालूम होता हो तो फिर स्वर्ग तथा मोक्षकी आशा छोड़ दे, उसकी इच्छा तक छोड दे और तिर्यंच तथा नरक

गतिके घोरातिघोर दुःखोंको स्वीकार ले। अर्थ स्पष्ट होनेसे विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। चारित्र ग्रहण करके तद्योग्य परीषहोंको सहन करनेमें जी चुराय और सुखाभिलाषासे इन्द्रियोंके विषय सेवन कर चारित्रमें दूषण लगाय तो परभवमें अवश्य ही उसे तिर्यंच तथा नरकादि गतिजन्य घोर दुःखोंका सहना पड़ेगा ॥

परीषह सहन करनेमें विशेष शुभ फल।

समग्रचिन्तार्तिहतेरिहापि,
यस्मिन्सुखं स्यात्परमं रतानाम्।
परत्र चेन्द्रादिमहोदयश्री
प्रमाद्यसीहापि कथं चरित्रे ॥ १७ ॥

मू० चारित्रसे इस भवमें सर्व प्रकारकी चिन्ता और मानसिक आधिका विनाश होता है, अतः जिन्हें उसमें लय लगी हो उन्हें महान् सुख होता है तथा परभवमें इन्द्रासन या मोक्षकी महालक्ष्मी प्राप्त होती है। इस प्रकार होने पर भी तू इस चारित्रमें प्रमाद क्यों करता है ? ॥

वि० चिन्ता—राज्यभय और चोरभय,

आधि—अपना एवं दूसरोंका भरण पोषण करने आदिसे होनेवाली मानसिक पीडा,

साधुजीवनमें बहुधा स्वात्मसंतोष और लभ्य वस्तुका भी इच्छा पूर्वक परित्याग देखनेमें आता है। इस स्वात्मसंतोष और स्वयं त्यागमें कितना आनन्द समाया है यह तो आज अनुभव सिद्ध ही है। प्रथम तो इसमें चिन्ता या अन्य किसी प्रकारकी मानसिक उपाधिको जरा भी अवकाश नहीं, नि-

लता। इस महान लाभके सामने अन्य सब प्रकार के लाभ तुच्छ हैं। इस प्रकारका मानसिक सुख प्राप्त करनेमें चाहे जितना असुभीता हो—परीषह सहन करने पड़ते हों तथापि उनका सामना करनेमें जरा भी संकोच न करना चाहिये। मानसिक सुखके सामने संसारके बाह्य सुख कुछ हिसाबमें नहीं। इस सुखसे उपरान्त आत्मिक वृत्ति शुद्ध होनेके कारण नवीन कर्मबन्ध नहीं होता और कदाचित् होता है तो शुभबन्ध ही होता है। मानसिक समवृत्ति प्राप्त होनेसे नवीन कर्मबन्धका अभाव होता है। नूतन कर्मबन्धके अभा में भूतकालीन कर्मोंका भुगतान होता है। इस प्रकार यदि शुभ कर्मबन्ध हुआ तो उसमें देव देवेन्द्र आदिकी लक्ष्मी प्राप्त होती है। इसी तरह चारित्र पालनेसे सर्वत्र आनन्द की प्राप्ति होती है। इसी लिये शास्त्रकार फरमाते हैं कि—

न च राजभयं न च चौरभयं,
न च वृत्तिभयं न वियोग भयम्।
इहलोकसुखं परलोकसुखं,
श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम्॥

अर्थात् साधुजीवनमें राजभय, चौरभय, आजीविका भय, या वियोगभय नहीं होता। इस लोक में भी सुख है और परलोकमें भी सुख है, अतएव साधुपन अतीव रमणीय, आनन्दकारी है। इस लिये महानुभाव! सर्व प्रकारसे लाभदायक साधुजीवनको प्राप्त करनेमें और यदि प्राप्त किया हो तो उसे बराबर पालनेमें प्रमाद क्यों करता है?

ये पूर्वोक्त नव श्लोक खास कर साधुजीवनको ही उद्देश कर लिखे गये होनेके कारण बड़े असर कारक उपदेशपूर्ण

हैं अतएव मुमुक्षु प्राणीको इस असर कारक उपदेशसे बहुत कुछ ग्रहण करनेका है। इन नव श्लोकों द्वारा किये हुए उपदेशमें परीषह सहन और प्रमाद परित्यागका विषय मुख्य है। इन बाईस परीषहोंके सहने से मुनिजीवन सार्थक होता है। ये बाईस परीषह निम्न लिखे मुजब हैं।

समतासे क्षुधा सहन करना,

समतासे पिपासा सहन करना,

समतासे ठंडी सहन करना,

समतासे गरमी सहन करना,

समतासे डांस--मच्छर आदिका डंस सहन करना,

शरीरको ढकनेके लिये प्रमाणोपेत वस्त्र रखना,

किसी समय भी संयममें अप्रीति न करना,

स्त्रीके संसर्गका सर्वथा परित्याग करना,

मुनिजीवनके योग्य सर्वथा अप्रतिबद्ध विहार करना,

शास्त्रोंमें कहे मुताबिक अभ्यासके स्थानकी मर्यादा पालना,

चाहे जैसी शय्या--वसति मिले परन्तु उसके लिये राग द्वेष न करना,

यदि किसीसे अपना तिरस्कार किया जाता हो तो उसे समतासे सहन करना,

प्राणान्त कष्ट आवे तथापि धर्मका परित्याग न करना,

संयम निर्वाहके योग्य वस्तुकी याचना करनेमें न शरमाना,

यदि याचना करने पर वस्तु न मिले तो मानसिक वृत्तिमें समानता रखना,

यदि शरीरमें रोगोत्पत्ति हो तो उसकी पीड़ा, समतासे सहन करना,

शयन समय दर्भ तृणादिकका स्पर्श करना पडे तो उसे समतासे सहना,

शरीरकी सुश्रूषा न करना,

किसीकी तरफसे आदर-सत्कार मिले या न मिले उसकी परवाह न करना,

आदर सन्मान मिले तो गर्व न करना,

अपने ज्ञानका अहंकार न करना,

बुद्धिमन्द होनेके कारण यदि अल्प ज्ञान आता हो तो पढ़नेसे खिन्नचित्त न होना,

सर्वज्ञ कथित तत्वों पर दृढ श्रद्धा रखना.

इन पूर्वोक्त बाईस परीषहोंमें अनुकूल एवं प्रतिकूल सर्व परीषहों को सहन करनेसे महा संवरकी प्राप्ति होती है। अर्थात् उस परिस्थितिमें जीवात्मा नूतन कर्मके आगमन को रोकता है, नवीन कर्म उपार्जन नहीं करता। जिस प्रकार ये स्थूल परीषह हैं उसी प्रकार ये मानसिक भी हैं। मनो-राज्यमें भी उसका आभास उसी प्रबलतासे होता है और इसकी हाजरीसे जीवात्माको बहुत ही वीर्योल्लास होता है। एक एक परीषहका स्वरूप ध्यानमें रख कर विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि स्थूल हरकतें सहन करनेमें तैयारी बतलानेसे जीवात्मा बहुत कुछ सुख प्राप्त कर सकता है।

साधुजीवनको उद्देश कर लिखे हुये ये विचार गृहस्थोंके लिये भी विशेषतः अनुकरणीय हैं। जो परभव, आत्मा और पुद्गल का भिन्न स्वभाव तथा भिन्न भिन्न अस्तित्व मानता हो उसीको इस आध्यात्मिक विषयमें आनन्द प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें विशेष गहरा उतरनेकी आव-श्यकता है, परन्तु यहाँ तो तथाप्रकारके व्यवहारका अस्तित्व

स्वीकार कर ही इस विषयकी योजना की गई है। धर्मा-धर्म जीवाजीव तथा इह भव और परभवमें शुभाशुभ कृत कर्मके फलको माननेवाले आस्तिक मनुष्योंको थोड़ा सा कष्ट सहनेके बदले सदैव रहनेवाले महा सुखको प्राप्त करने में प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये ॥

सुसाध्य धर्म कर्तव्य ।

महातपो ध्यानपरीषहादि,
न सत्वसाध्यं यदि धर्तुमीशः
तद्भावनाः किं समितीश्चगुप्ती -,
र्धत्से शिवार्थिन्न मनः प्रसाध्याः ॥२८॥

मू० उग्र तप, ध्यान, परीषहादि सत्वसे सिद्ध हो सकें उस प्रकार के हैं, यदि उन्हें साधनेके लिये तू शक्तिमान् न हो तथापि भावना, समिति और गुप्ति जो मन वचनसे ही साधी जा सकती हैं उन्हें तू क्यों नहीं धारण करता ? ॥

पूर्वोक्त नव श्लोकोंमें साधुजीवनके योग्य परीषहोंको सहन करनेका उपदेश दिया गया है। उत्कृष्ट पट मासिक तप और महा प्राणायामादिक ध्यान एवं बड़े बड़े उपसर्ग परीषहोंके सहन करनेके लिये कदाचित् पंचम कालके प्रभावसे शारीरिक बल तथाप्रकारका न हो तथापि यह मार्ग बन्द नहीं है। इस कालमें भी वर्तमान शक्तिसे मनुष्य बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। यदि मन पर अंकुश हो तो तदनुसार इन्द्रिय दमन, आत्मसंयम, योगरून्धन वगैरह शारीरिक कष्ट विनाके

महा विकट कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं। अतएव यदि तुझसे उपरोक्त पद् मासिकादि तप न हो, महा प्राणवायु दमन—महा प्राणायामादि ध्यान न हो सके अथवा स्थूल बाईस परीषह सहनादि न बन सके तथापि धर्मबुद्धिसे उत्पन्न होनेवाली संसारकी अनित्यता आदि भावनायें भाना, अपने एकत्वका विचार करना, शरीरको अशुचिका पिंड समझ कर उसके ऊपरसे ममत्व कम करना, यह तेरा मुख्य कर्तव्य है। इसी प्रकार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनायें भी विचारना। इसके उपरान्त कोई भी वस्तु लेनी हो या रखनी हो तो उस समय बराबर उपयोग रख, एवं उठते, बैठते, चलते, फिरते, बोलते साथ उपयोग रखना ताकि पाँचों समितियोंका यथार्थ पालन हो सके। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक वृत्ति पर अंकुश—संयम रखनेसे तीन गुप्तियोंका पालन हो सकता है। समिति गुप्तिको धारण करना यह तेरे मनोबल पर निर्भर है। यदि तू पूर्वोक्त आचरण करेगा तो बहुत कुछ कार्य सिद्ध कर सकेगा॥

भावना संयमस्थान तथा उसका आश्रय।

अनित्यताद्या भज भावना सदा,
यतस्व दुःसाध्यगुणेऽपि संयमे।
जिघत्सया ते त्वरते ह्ययं यमः
श्रयन् प्रमादांन्न भवाद्बिभेषि किम्॥१९॥

मू० अनित्यता आदि सर्व भावनायें निरंतर विचार, जो संयमके (मूल तथा उत्तर) गुण बड़ी मुश्किलसे सिद्ध किये जा सकते हैं उनमें प्रयत्न कर। यह काल तुझे खाजानक

लिये जल्दी करता है तो फिर तू प्रमादका आश्रय लेते समय संसार भ्रमणसे नहीं डरता ? ॥

वि० इस असार संसारमें कोई वस्तु नित्य नहीं, तमाम वस्तुयें नाशवन्त हैं, मात्र आत्मा ही नित्य है।

२. संसारमें जीवात्माको सर्वज्ञ देव के वचन सिवाय अन्य कुछ भी आधार नहीं ! यदि वह चाहे तो अपनी सत्ताको सिद्ध कर अपने पैरोंसे खड़ा हो सकता है।

३ संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवात्मा अनेक दफा रंक, अनेक दफा राजा, अनेक दफा इंद्र, अनेक दफा रोगी, अनेक, दफा निरोगी और अनेक बार भोगी तो अनेक बार योगी बनता है। एवं संसारके सम्बन्धोंमें भी जो पिता है वह पुत्र भी होता है, जो स्त्री है वही माता भी बनती है और माता है सो स्त्री बन जाती है। अनेक प्रकारकी गतियोंमें अनेक प्रकारके जन्म धारण करके यह जीवात्मा संसारके सर्व प्रकारके सम्बन्धोंको प्राप्त करता है। इस तरह अनेक प्रकारकी विचित्रता होती ही रहती है।

४ यह जीव एकला ही आया है और एकला ही जायगा, यह किसीका नहीं और इसका भी कोई नहीं है। यह किसीके साथ नहीं जाता और न ही कोई इसके साथ आता है।

५ हे आत्मन् ! जिसे तू अपना समझता है वह तेरा नहीं है। संसारमें तमाम पौद्गलिक पदार्थ विनश्वर हैं, अतएव वे त्याज्य हैं। इसी प्रकार सगे सम्बन्धी स्त्री पुत्रादि भी तेरे नहीं हैं, तू सबसे जुदा ही है।

६ तुझे इस शरीर पर अतीव मोह ममत्व है, परन्तु यह गन्दकीका पुतला है। इसके एक भी पदार्थ मांस, रुधिर हड्डियां या मज्जा आदि पर मोह किया जाय ऐसा है ही नहीं, क्यों कि शरीरके तमाम अवयव अपवित्र हैं। इसलिये विनश्वर शरीर सम्बन्धी विमोहका परित्याग करना चाहिये।

७ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और मन वचन कायके योगोंसे ही कर्म बन्ध होता है, कर्मोंके शुभाशुभ फलका समझना और उसके प्रवाहका विचार करना इसे आश्रव भावना कहते हैं।

८ इसी प्रकार समिति, गुप्ति, यतिधर्म, चारित्र, परीषह सहनादिसे कर्मबन्ध रुकता है, कर्मका प्रवेश द्वार बन्ध होता है। इस विषयका विचार करना इसे संवर भावना कहते हैं।

९ इसके उपरान्त आत्मप्रदेशोंके साथ लगे हुए प्राचीन कर्मोंको बाह्य तप एवं अभ्यन्तर तप द्वारा दूर करना, तप जप ध्यानादिसे उन पूर्वकृत कर्मोंके विपाकोदयको पैदा ही न होने देना इस प्रकारके प्रबल पुरुषार्थको निर्जरा कहते हैं और इसका विचार करना इसे निर्जरा भावना कहते हैं।

१० विश्व मंडलकी रचना, नरकके पाथड़ों तथा आंतरोंका स्वरूप, मनुष्य लोकका प्रदेश, बारह देवलोक, नवग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर-विमान, मोक्षस्थान, तथा वहाँ पर रहे हुए जीवात्मा और उनके साथ अपना क्या सम्बन्ध है एवं उन

सर्व स्थानोंमें अनन्त वार धारण किये हुए अपने जन्म मर-णादिका विचार करना।

११ धर्म यह जीवात्माको दुर्गतिमें पड़ते हुए बचाता है, अतएव उसे सेवन करते मनमें आनन्द पैदा होता है और दूसरोंको कुछ हानि नहीं होती। इस धर्मका स्वरूप दान, शील, तप और भावना द्वारा कथन किया है, अथवा साधुके दश यति धर्म द्वारा, श्रावकके बारह व्रत एवं २१ गुण-द्वारा, मार्गानुसारीके ३५ गुण द्वारा इस तरह अनेक प्रकारसे शास्त्रमें वर्णन किया है।

उस विशुद्ध धर्मको कथन करनेवाले उत्तम पुरुषोंकी दुर्ल-भताका विचार करना!

१२ संसारमें धर्मके नामसे अनेक संस्थायें होनेके कारण शुद्ध देव गुरु धर्मको पहचानना बड़ा कठिन काम है। तथा पहचान कर भी आत्मशुद्धि के लिये त्रिकरणकी पवि-त्रतासे उसकी पूजा करना, वन्दन सेवा करना, आराधना करना यह विशेषतः दुर्लभ है। परन्तु यही अपना वास्तविक कर्तव्य है।

पूर्वोक्त इन बारह भावनाओंको प्रतिदिन विचारना चा-हिये। मैत्री भावना आदि चार भावनायें भी साधुजीवन एवं गृहस्थ जीवनमें भी महा लाभदायक हैं। मैत्री भावना विचारते समय अत्यानन्द प्राप्त होता है।

१ जगतमें कोई भी प्राणी पाप न करे कोई भी जीवात्मा दुःख प्राप्त न करे, संसारके प्राणी दुःखसे-कर्मसे मुक्त होवें।

पंच महाव्रत पालन,

दश प्रकारका साधुधर्म, यह दशविध यति–साधुधर्म बड़ा उपयोगी है, एक प्रकारसे यह दशविध साधु धर्म ही साधु जीवन है ।

१ क्षमा धारण करना,

२ अहंकारका परित्याग करना,

३ अन्तःकरणमें सरलता रखना,

४ लोभका परित्याग करना,

५ यथाशक्ति निरन्तर तप करना,

६ आश्रवकी विरति करना, याने उसे रोकना,

७ सत्य धारण करना,

८ संयममें अतिचार न लगाना,

९ धन ममत्व एवं धनका परित्याग करना,

१० मन वचन कायासे अखंड ब्रह्मचर्य पालन करना,

१७ प्रकारका संयम इस तरह है –

पाँच आश्रवोंका विरमण, नूतन कर्मबन्ध करानेवाले प्राणातिपातादि पाँच महा दोषोंसे पीछे हटना ।

पाँच इंद्रियोंका दमन करना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंका परित्याग करना, मन वचन कायाके अशुभ व्यापारजन्य तीन दण्डसे विरति धारण करना ।

यह सतरह प्रकारका संयम कहा जाता है ।

दश प्रकार पूज्य पुरुषोंकी सेवा करना । आचार्य महाराजकी सेवा, उपाध्याय महाराजकी सेवा, तपस्वी मुनिकी सेवा, नवीन दीक्षित मुनिकी सेवा, रोगी मुनिकी सेवा,

सामान्य मुनिकी सेवा, वृद्ध मुनिकी सेवा, समस्त संघकी सेवा, कुलकी सेवा, और गणकी सेवा।

एक वाचनावाले अर्थात् जिनका एक ही जगह पठन पाठन होता हो उस प्रकारके साधु समुदायको गण कहते हैं और गणके समूहको कुल कहते हैं तथा कुलके समूहको संघ कहते हैं।

इन सभोंकी अधिकार तथा योग्यताके प्रमाणमें शक्य सेवा शुश्रूषा करना इसे दशविध वेयावच्च—सेवा धर्म कहते हैं।

नव ब्रह्मचर्यकी गुप्ति, इसे ब्रह्मचर्यकी नव बाडें भी कहते हैं।

१ जिस स्थानमें स्त्री, नपुंसक एवं पशु स्त्री रहते हों उस जगह न रहना।

२ स्त्रीके साथ एकान्तमें बात चीत न करना, स्त्रीसम्बन्धी कथा न करना,

३ स्त्री जिस आसन पर या जिस जगह प्रथम बैठी हो उस स्थान पर दो घडी पर्यंत न बैठना,

स्त्रीके अवयवोंको टकटकी लगा कर न देखना, साधारणतः कदाचित् दृष्टिपात हो जाय तो दृष्टिको पीछे खींच लेना, उसके किसी भी अवयवकी सुन्दरता पर चिन्तन न करना।

५ जिस स्थान पर पतिपत्नीकी कामविकार सम्बन्धी बातें हो रही हों और अपनेको सुन पड़ती हों या उनकी चेष्टायें देख पडती हों उस प्रकारके पासवाले मकानमें न सोना और न रहना।

६ पूर्वमें संसारके सुख भोगे हों तो उन्हें स्मरण न करना।

७ स्निग्ध मादक वस्तु न खाना, याने जिससे विकारको पुष्टि मिले उस प्रकारका आहार न खाना।

८ अविकारी खुराक भी प्रमाणसे अधिक न खाना। मात्र शरीरका निर्वाह हो सके उतना ही खोराक ग्रहण करना।

९ शारीरिक विभूषा शृंगार न करना।

ज्ञानादि त्रय--शुध्द ज्ञान, शुध्द श्रध्दा और निरतिचार चारित्र धारण करना।

बारह प्रकारका तप, छः बाह्य और छः अभ्यन्तर--उपवास आदि करना १ कम खाना २ खानेकी वस्तुओंमें प्रमाण करके उनमेंसे कम वस्तुयें खाना. ३ दूध, दही, घी, तेल, मिठाई तथा पकान्न इन छहों विगयोंमेंसे (जो उत्कृष्ठ मार्गमें विना कारण ग्रहण करना साधुके लिये सर्वथा निषिध्द है) अपनी इच्छानुसार प्रतिदिन एक दो विगयका परित्याग करना। आत्मकल्याण के लिये जिससे शरीरको कुछ कष्ट पहुँचे उस प्रकारकी आनन्द पूर्वक धर्मक्रिया करना ५ सोते समय शरीरके अंगोपांगोंको संकूचित रखना ६,

यह छः प्रकारका बाह्य तप कहा जाता है।

यदि अज्ञाततया चारित्रमें किसी प्रकारका दूषण लग गया हो तो उसका प्रायश्चित करना १ पूज्य पुरुषोंका विनय-आदर सत्कार करना २ बाल, वृद्ध, ग्लान मुनियोंकी सेवा करना ३ हमेशह ज्ञानाभ्यास करना, ४ चाहे उतने उपसर्ग--विघ्नकष्ट आयँ अपने ध्येयको सिद्ध करनेके लिये उन्हें उत्साह पूर्वक सहन करना ६,

इसे छः प्रकारका अभ्यन्तर तप कहते हैं ।

एवं क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार प्रकारके कषायोंका परित्याग करना । कषाय पैदा होने के प्रसंग पर उस पर अंकुश रखना, अर्थात् आत्मीय गुणसमूह रूप बगीचेको भस्म करनेवाला दावानल समझ कर क्रोधको हृदयमें जन्म ही न लेने देना ।

इस प्रकार ये चरण सत्तरीके सत्तर भेद समझना । करण सत्तरीके भेद भी नीचे लिखते हैं ।

४ चार प्रकारका पिण्ड—आहार, शय्या, वस्त्र, और पात्र, अकल्पनीय न ग्रहण करना । पाँच समितियोंका स्वरूप प्रथम आ ही चुका है ।

तथा बारह भावनायें, इनका भी स्वरूप पहले आचुका है ।

साधु मुनिराजकी बारह प्रतिमायें होती हैं, जो बारह प्रकारके नियम विशेष होते हैं, और साधु जीवनमें महान् उपयोगी हैं ।

पाँचों इन्द्रियोंका दमन करना, अर्थात् अप्रशस्त विषयोंसे रोक कर प्रशस्त विषयोंमें नियोजित करना ।

२५ प्रतिलेखना-- सुबह, मध्यान्ह, और संध्या समय सर्व उपकरणोंकी प्रतिलेखना करना ।

पूर्वोक्त तीन गुप्तियें ।

चार अभिग्रह--द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अमुक प्रकारका तप-नियम अंगीकार करना ।

पूर्वोक्त चरण सत्तरी और करण सत्तरीमें से चरण सत्तरी

नित्य अनुष्ठान है और करण सत्तरी प्रयोजन वशात् प्राप्य अनुष्ठान है।

साधु योग्य इस सर्व कर्तव्यमें सोपयोग प्रवृत्ति करना चाहिये। प्रमादसे संसार परिभ्रमण बढ़ जाता है। मृत्यु समय निकट आता जाता है और गया हुआ वक्त अनेक बार पश्चात्ताप करने पर भी वापिस नहीं आता एवं इन धार्मिक सर्व सामग्रियों सहित पुनः पुनः मानव जन्मकी प्राप्ति भी महा दुर्लभ है। यह सोच विचार कर अपने अंगीकृत संयम मार्गमें प्रमाद रहित प्रयाण करना चाहिये॥

योगरुन्धनकी आवश्यकता।

हतं मनस्ते कुविकल्पजालै-,
वंचोप्यवद्यैश्च वपुः प्रमादैः
लब्धीश्च सिद्धीश्च तथापि वाञ्छन्,
मनोरथै रे वा हतोऽसि ॥ ४० ॥

मू० मुने! तेरा मन खराब संकल्प विकल्पोंसे नष्ट हुआ है, तेरी वाणी असत्य और कठोर भाषणसे सनी हुई है। शरीर प्रमादसे दूषित है तथापि तू लब्धि और सिद्धिओंकी वांछा करता हुआ (मिथ्या) मनोरथोंसे हणा गया है॥

वि० जिसने मनको साध लिया उसने सब कुछ साध लिया। मनोव्यापारका निरोध करने पर वचन और कायका व्यापार रोकना कुछ कठिन काम नहीं। मन वचन कायके योगों पर संयम-अंकुश प्राप्त करना यह साधुजीव-

नका प्रथम कर्तव्य है। मन वचन कायके योगों पर अंकुश प्राप्त किये विना लब्धि तथा सिद्धियोंकी इच्छा रखना व्यर्थ है। किसी भी वस्तुकी योग्यता प्राप्त किये बगैर–उसकी प्राप्तिका मार्ग परिमार्जन किये विना उसकी इच्छा करना उल्टा खेदकारक होता है। श्रीगौतम स्वामीको लब्धियें प्राप्त हुई थीं, परन्तु साथमें यह भी समझना चाहिये कि उनका मन वचन कायके योगों पर इतना प्रबल अंकुश था कि यदि महावीरप्रभु पर राग न होता तो प्रभुके अस्तित्वमें ही उन्हें परमज्ञान केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती। इस लिये मुनिराज! योगवश करनेकी अत्यावश्यकता है। संसारके दुःखोंका सर्वथा अभाव और परमपद मोक्षकी प्राप्ति योगोंको वश करने पर ही होती है॥

मनोयोग पर अंकुश।

मनो वशस्ते सुखदुःखसङ्गमो,
मनो मिलेद्यैस्तु तदात्मकं भवेत्।
प्रमादचोरैरिति वार्यतां मिलत्,
शीलाङ्गमित्रैरनुषञ्जयानिशम्॥ ४१॥

मू० तुझे सुखदुःखकी प्राप्ति होना यह तेरे मनके स्वाधीन है। मन जिसके साथ मिलता है उससे वह एकाकार होजाता है अतः प्रमादरूप चोरके साथ मिलते हुये तेरे मनको रोक और शीलाङ्गरूप मित्रोंके साथ निरन्तर नियोजित कर॥

वि०—मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः,

इस सूत्रके अनुसार कर्मबन्ध और मुक्ति या सुख और दुःखकी प्राप्तिका आधार मनुष्योंका मन ही है।

शास्त्रकार मनका स्वभाव तेलके समान कहते हैं। जिस तरह बहुतसे पानीमें तेलका जरासा बिन्दु सर्वत्र पसर जाता है उसी प्रकार संसार सागरमें यदि मनको निरंकुश रक्खा जाय तो वह चारों ओर दौड धूप कर संसारकी उपाधियोंमें तद्रूप हो जाता है। तेलके साथ जिस तरहके पुष्पोंका मेल किया जाय उसी प्रकारका वह तेल होजाता है। यदि तेलके साथ चमेली आदि के पुष्पोंका मेल किया जाय तो वही तेल चमेली के पुष्पोंकी सुगन्ध धारण करता है। उसी प्रकार यदि मनको प्रशस्त संयोगोंमें रक्खा जाय तो वह भी तथाप्रकारका होजाता है, अतएव उसे अप्रशस्त संयोगोंसे हटा कर सदैव प्रशस्त संयोगोंमें रखना चाहिये।

इसी प्रकार पानी और रंगका दृष्टान्त है। पानीमें रंग डालनेसे पानी और रंग तदाकार हो जाते हैं, अर्थात् जिस प्रकारका रंग हो उसी प्रकारका रूप वह जल धारण कर लेता है। ऐसे ही संसारके किसी भी कार्यरूप रंगमें मनरूप पानी को मिलाया हो तो वह उस कार्यका ही रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार मनकी सम्बन्धक वस्तुके साथ होनेवाली तादात्म्यरूप प्राप्तिकी ओर ध्यान खींच कर शास्त्रकार फरमाते हैं कि जब इस प्रकारकी परिस्थिति है तो फिर मनको प्रमादके साथ रखना यह बड़ा हानिकारक है। समता, दया, उदारता, सत्य, धैर्य, शीलांग आदि सद्गुणोंके साथ नियोजित करने पर तद्रूप हो जानेसे आत्माको महान् लाभ होता है,

अतः नीच वृत्तियोंके साथ मनका संयोग न होने देनेके लिये सदैव ध्यान रखना चाहिये ॥

मत्सरत्याग ।

ध्रुवः प्रमादैर्भववारिधौ मुने !
तव प्रपातः परमत्सरः पुनः ।
गले निबद्धोरुशिलोपमोऽस्ति चेत्,
कथं तदोन्मज्जनमप्यवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

मू० मुने ! तू प्रमाद करता है अतएव संसार समुद्रमें तेरा पतन होना तो निश्चय ही है, परन्तु तू दूसरों पर मत्सर करता है यह गलेमें बांधी हुई शिलाके समान है तो फिर तू उससे किस प्रकार ऊंचे आ सकेगा ? ॥

वि०—साधुजीवनमें प्रमाद महान् शत्रु है। अतिशययुक्त ज्ञानको धारण करनेवाले बड़े बड़े धुरन्धर महात्मा भी प्रमाद सेवन करनेसे अधोगतिमें फिसल पड़े हैं। सदैव आत्म-जागृति रखना यह साधुजीवनमें मुख्य धर्म है। आत्म जागृति विनाका सर्व धार्मिक व्यवहार व्यर्थ है, इतना ही नहीं किन्तु निन्द्य भी है। आत्मजागृतिसे वंचित मनुष्य अवश्य प्रमादके वश पडता है, अथवा यों कहना चाहिये कि प्रमादी मनुष्य अवश्य ही आत्मजागृतिसे वंचित रहता है, इसी कारण मुमुक्षु महात्माओंके लिये शास्त्रकारोंका फरमान है कि सदाकाल ज्ञान ध्यान द्वारा अप्रमत्त अवस्थामें रहना। यहाँ पर प्रमादसे विषय, कषाय विकथा मद्य और निद्रा तथा आलस्यके वश अपने कर्तव्य पालनमें यथोचित

प्रवृत्ति न करना समझना चाहिये। इस प्रमादको सेवन करनेवाला अपने आत्मोत्क्रान्ति मार्गसे च्युत होकर संसार समुद्रमें पड़ता है। यदि दूसरे गुणवानोंको देख याने अपनेसे उच्चात्माओंको देख कर उन पर ईर्षा या मत्सरभाव धारण किया जाय तो वह संसार सागरमें डूबते समय गलेमें पाषाण की शिला बाँध लेनेके समान है। अर्थात् प्रमाद और मत्सर साधुजीवनरूप जहाजको संसार सागरमें डबोदेनेवाले हैं। मत्सर न करना, दूसरोंके अवर्णवाद न बोलना और प्रमाद न करना यह उपदेश जितना साधुजीवनके उपयोगी है उतना ही सर्व साधारण जनताके उपयोगी है। अतएव मुमुक्षु एवं अन्य मनुष्योंको चाहिये कि आत्माका अधःपात करनेवाले इन महान् दुर्गुणोंका परित्याग कर अपनी उत्क्रांतिके मार्गमें सतत प्रयास करें।

निर्जरानिमित्त परीषह सहन।

महर्षयः केऽपि सहन्त्युदीर्या,
ध्युग्रातपादीन्यदि निर्जरार्थम्।
कष्टं प्रसङ्गागत मप्यणीयो,
पीच्छन् शिवं किं सहसे न भिक्षो?॥४३॥

मू० जब बड़े बड़े ऋषिमुनि कर्मकी निर्जराके लिये उदीर्णा करके भी आतापनादि सहन करते हैं तो फिर तू मोक्षकी इच्छा रखता हुआ भी प्रसंगोपात प्राप्त हुये थोडेसे कष्ट को भी क्यों नहीं सहन करता?॥

वि० कर्मका उदयकाल परिपक्व होनेसे पहिले ही पुरुषार्थ

द्वारा उसे आकर्षण कर भोगलेना इसे उदीर्णा कहते हैं। अर्थात् पूर्वसंचित कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिये उनकी परिस्थिति परिपक्व होनेसे पहिले ही किसी भी प्रकारसे उन्हें उदयमें लाकर भोगना, आत्मप्रदेशोंसे दूर करने के लिये उस उपस्थित किये हुए कष्टादिको सहन करना इसे शास्त्रकार उदीर्णा कहते हैं। अद्भुत चारित्रवाले महात्मा पुरुष आत्मविकाशकी प्राप्तिके लिये पूर्वबद्ध कर्मोदयसे या उदीर्णा द्वारा प्राप्त हुये कष्टको सहनके लिये सदैव सोत्साह तत्पर रहते हैं। बल्कि कर्म निर्जराके हेतु उस प्रकारका कष्ट प्राप्त हो यह राह ही देखा करते हैं। वे प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि हमें उस प्रकारके कष्ट दो,

"विपदः सन्तु नः शश्वत्"

हमें निरन्तर विपत्ति प्राप्त हो। इस तरह प्रार्थना करके भी शुद्ध दृष्टिसे आत्मकल्याणके लिये विपत्ति सहन करनेवाला, पुरुषार्थ करनेवाला धीर वीर महात्मा मध्यान्ह समय नदीकी रेतीमें सूर्यकी आतापना लेता है। पोस महीनेके जाड़ेमें शरीरसे वस्त्र उतार कर नदीके किनारे जैसे ठंडे प्रदेशमें जा कर कायोत्सर्ग ध्यान, समाधी करता है। जिसे मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा हो उसे पूर्वोक्त प्रकारसे उच्च जीवन गुजारना चाहिये।

महात्मन्! तुझे विचार करना चाहिये कि तूने तो मोक्ष प्राप्तिके लिये ही सर्व संगका परित्याग किया है, तो फिर जरासा कष्ट—जो तेरे साध्यकी सिद्धिमें सहायक है, प्राप्त होने पर तू कायरता क्यों धारण करता है? तुझे मालूम है कि उच्च स्थिति प्राप्त करनेके लिये कितना स्वार्थत्याग करना

पडता है। एवं अपने इष्ट मार्गमें उपस्थित होनेवाले कष्टको सहन करना पडता है और उच्च स्थिति प्राप्त करना यह तो तेरा मुख्य ध्येय ही है। आत्मार्थके साधनमें प्राप्त हुये कष्टको सहन करनेमें जी चुराना तेरे लिये उचित नहीं है, इस लिये तुझे चाहिये अपने जीवन संग्राममें उतर कर कायरताको छोड शूर वीरताके साथ कष्टों–विघ्नोंका सामना करे। क्षमाखड्ग धारण करके क्रोध, मान, माया, लोभ, मत्सर आदि अपने अन्तरंग शत्रुओंको परास्त कर।

पूर्वोक्त पाँच श्लोकोंमें साधुगुणकी मुख्यता बतलाई गई है। जिसमें चरण सत्तरी, करण सत्तरी, भावनाओंकी प्रधानता और मुख्य वृत्तिसे निर्बल शरीर धारी वगैरह असमर्थके लिये भी तीन गुप्तिका प्रबल साधन बतलाया गया है। यह सब कुछ अभ्यास द्वारा साध्य है। यदि इसमें बाह्य वस्तुओंकी पूर्णतया सामग्री प्राप्त न हो तथापि किसी प्रकारकी हरकत नहीं आती। संसारभरमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो उसकी प्राप्तिके अभ्यास द्वारा प्राप्त न होसके—

अभ्यासेन क्रियाः सर्वा, अभ्यासात्सकला कलाः।
अभ्यासाद् ध्यानमौनादि, किमभ्यासस्य दुष्करम्।

अभ्याससे सर्व क्रियायें हो सकती हैं, अभ्याससे सर्व कलायें प्राप्त होती हैं, अभ्याससे ध्यान मौनादि हो सकते हैं, अभ्याससे क्या दुष्कर है?,, अतएव अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। समिति गुप्तिको अष्ट प्रवचनमाता कहा जाता है, सो सत्य ही है, इस अष्ट प्रवचनमाताको प्राप्त करनेसे प्रभुकी सर्व आज्ञायें पाली जा सकती हैं।

अबसे आगेके तेरह श्लोकोंमें मुनिको सीधे तौरसे और

आक्षेपरूपसे शिक्षा दी गई है जो बड़ी ही उपयोगी है, अतएव उस पर बराबर ध्यान रखनेकी खास आवश्यकता है ॥

यतिस्वरूप भावदर्शन ।

यो दानमानस्तुतिवन्दनाभि,
न मोदतेऽन्यैर्न तु दुर्मनायते ।
अलाभलाभादि परीषहान् सहन्,
यतिः स तत्वादपरो विडम्बकः ॥४४॥

मू० जो दान मान (सत्कार) स्तुति और नमस्कारसे खुशी नहीं होता और इससे विपरीत (निंदा वगैरह असत्कारसे) दुःख भी न मनाता हो तथा अलाभादि परीषहोंको सहन करता है वह परमार्थसे यति (साधु) है, बाकी अन्य सब वेष विडम्बक हैं ॥

वि०—कोई मनुष्य आदर सत्कार करे, स्तुति प्रशंसा करे और कोई तिरस्कार करे या निन्दा करे उन दोनों पर समान भाव रहे यह साधुस्वरूप है । कहा है कि "**समोय माणावमाणेसु**" इसमें भाव धर्मका सूक्ष्म आचरण होता है । मानसिक क्षेत्रमें इस प्रकारका उच्चभाव वर्तता हो और शारीरिक क्षेत्रमें अनुकूल एवं प्रतिकूल सर्व प्रकारके परीषह सहन करनेमें दृढता हो, वास्तवमें तत्वसे वही साधुपन है और वह जिसमें हो वही सच्चा साधु-मुनि महात्मा कहा जाता है । बाकी पूर्वोक्त गुणरहित साधुवेष धारण करनेवाले वेश-बिडम्बक-साधुवेशधारी नटके समान हैं । गुणविहीन वेश-धारियोंका तो एक प्रकारसे यह व्यापार ही चल पड़ा है कि

साधुवेश धारण कर बाह्य क्रियाओं द्वारा श्रद्धानिष्ठ गृहस्थोंमें अपने आपको सच्चा साधु स्थापन कर मान सन्मान प्राप्त करना, अपनी लालचोंको पूर्णकर आनंदित जीवन गुजारना, परन्तु उन्हें इस बात पर ध्यान करना चाहिये कि इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे धार्मिक जीवनतरु सर्वथा जडमूलसे उखड जाता है। इस लिये नाटकी वेश भजनेवाले पात्रके समान जीवन चरियाको परित्याग कर शुद्ध साधुदशा प्राप्त करना चाहिये, अन्यथा पुण्योदयसे प्राप्त की हुई यह सर्व सामग्री प्रमाद वश यों ही खोदेनेसे अन्तमें महान् पश्चात्ताप करनेका समय आयगा ॥

साधुको गृहस्थकी चिन्ता करनेसे हानि

दधद् गृहस्थेषु ममत्वबुद्धि,
तदीयतप्त्या परितप्यमानः ।
अनिवृतान्तःकरणःसदा स्वै—
स्तेषां च पापै भ्रमिता भवेऽसि ॥४५॥

मू० गृहस्थों पर ममत्व बुद्धि रखनेसे और उनके सुख-दुःखकी चिन्ता द्वारा संतप्त रहनेसे तेरा अन्तःकरण सर्वदा व्याकुल रहेगा, और अपने तथा उनके पापसे तू संसारमें परिभ्रमण करेगा ॥

वि० साधुजीवन और गृहस्थ जीवनमें जमीन आसमान जितना अन्तर है। तथापि पंचम कालके प्रवाहसे आज त्यागी और निरन्तर परमार्थ जीवन बितानेका दावा करनेवाले साधु महात्माओंका जीवन भी गृहस्थोंके अतिपरिचयसे

प्रतिदिन अवनतिके गर्तमें पडता जा रहा है। जिन्होंने अपनी आत्मा एवं दूसरोंका कल्याण करनेके लिये गृहस्थोंके संचय परिचयका परित्याग कर सर्वज्ञ प्रभु कथित मुनिपदको अंगीकार किया है, आज वे ही गृहस्थोंके सावद्य कार्योंमें सलाहकार बनते देख पडते हैं। गृहस्थोंको अपना अनुरागी बनानेमें ही वे अपनी सर्व शक्तिका उपयोग करते हैं। एक साधु जब दूसरे साधुके अनुरागी गृहस्थ पर अपना प्रभाव डाल कर उसे अपना अनुरागी बनालेता है उस समय उस पहले साधुके दिलमें दूसरे साधुके प्रति कट्टर शत्रुभाव पैदा होता है और उस गृहस्थको पुनः अपना अनुरागी बनाने के लिये तनतोड प्रयत्न करता है। गृहस्थके सामने उस साधुके दुर्गुण प्रगट करता है। अहमदाबाद जेसे बडे शहरमें यदि कभी दो चार महीने बाद कोई बडा सेठ साहूकार गृहस्थ किसी आचार्य महाराजको वन्दन करनेके लिये उपाश्रयमें आजाता है तो पूर्वकालमें कभी देव देवेन्द्र मुनियोंको वन्दनार्थ आया करते थे उस से भी अधिक महत्व आज सेठ साहूकारोंके उपाश्रयमें आने और उनके वन्दनका माना जाता है। क्योंकि पूर्व कालीन निस्पृह महर्षियोंको देव देवेन्द्रोंकी मुलाकात या उनके वन्दनकी स्पृहा न होती थी, किन्तु आज कलके धर्मगुरुओंमें इस स्पृहाका प्रबल प्रवाह बढ़ रहा है इतना ही नहीं परन्तु इसे पूर्ण करनेके लिये वे दत्तचित्त होकर प्रयत्न भी कर रहे हैं और बडे पदस्थ मुनिराजोंसे यह चेपी रोग छोटे मुनियोंमें भी पूर्ण जोशके साथ फैलता जा रहा है। समयकी परिस्थितिको न देख कर आज प्रगतिशील युगमें भी हमारे विद्वान धर्मगुरु प्राचीन रूढी-

को सामने रख कर अपने अनुयायी गृहस्थोंका हजारों व लाखों रुपया प्रतिवर्ष मात्र अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्तिमें खर्च कराते हैं। जिस महावीर प्रभुके मार्गके अनुयायी कहला कर वे सर्व प्रकार की मन मानी मौज मजा उडा रहे हैं, मान सन्मान पा रहे हैं आज उसी महावीर देवका अनुयायी समाज अस्तोव्यस्त हो रहा है। धर्मोन्नति एवं समाजोन्नतिके नामसे प्रतिवर्ष लाखों रुपया खर्च होते हुये भी प्रति दशवर्षमें हजारोंकी जनसंख्या घटती ही नजर आती है। ऐसी परिस्थितिमें यदि समाजके अग्रगण्य धर्मगुरु अपने रागी श्रावकोंसे मिलनेवाले सत्कारको ही अपने जीवनका आदर्श मान कर तत्पूर्तिके प्रयत्नसे आगे न बढेंगे तो वे अपनी आत्माका तथा समाजका कल्याण करनेसे सर्वथा वंचित रहेंगे। जो मुनिराज महावीर प्रभुके कथन किये हुये वास्तविक मुनिमार्गमें चलना चाहता हो उसे गृहस्थोंका परिचय करना छोड़ शास्त्रमें कथन किये मुजब किसी मनुष्य या वस्तु पर ममत्व न रख कर, हजारों रुपयोंकी लागतके इन मोहक उपाश्रयोंका परित्याग कर अरण्यवास स्वीकारना चाहिये और एकान्तमें रहकर सदा काल अपने आत्मकल्याणकी ही प्रवृत्तिमें प्रवृत्त रहना चाहिये। जो मुनिराज उस वीतराग प्रभुके कथन किये वास्तविक कठिन मुनिमार्गमें चलनेके लिये असमर्थ हो उसे द्रव्य क्षेत्र काल भावानुसार मूलगुणोंका रक्षण करते हुए उत्तर गुणोंमें कुछ अपवाद भी सहन कर महावीरके अनुयायी समाजका रक्षण करना चाहिये, अर्थात् उसे समाज सेवा करनेके लिये कमर कस लेनी चाहिये, मैं समाजका धर्मगुरु हूँ, प्रथम तो इस अहंभावनाका परित्याग करना

चाहिये। समाजकी परिस्थिति सुधारनेके लिये ही अपनी सर्व प्रवृत्ति करनेसे भी अपने जीवनका कुछ ध्येय सिद्ध हो सकता है। अन्यथा मिथ्या मोहविवश अथवा किसी तुच्छ लालचके वश होकर गृहस्थों पर ममत्व रखना, उनके सांसारिक सावद्य कार्योंके सिद्ध होनेकी चिन्तामें पडना यह मेरा भक्त श्रावक है, यह समझ कर सावद्य कार्योंमें भी सलाह देना यह सब कुछ ममत्व बुद्धिजन्य दोष मुनिपद रूप कल्पतरुकी जड़को उखाड कर फेंक देता है। अर्थात् गृहस्थोंसे तुच्छ मान बडाई प्राप्तिकी इच्छासे (जो आत्मविकाशके मार्गमें कंटकरूप है) उनके सुखदुःखमें हर्ष शोक मनाने, उनकी हांमें हां मिलाने या किसी स्वार्थ सिद्धिके लिये दीनतापूर्ण वचन बोल उनका खुशामदी टट्टु बननेसे साधुजीवन नष्ट होजाता है और जो समाजकी सेवा करनेका मध्यम मार्ग है उससे भी वंचित रह कर पुनः संसारचक्रमें पड़ जाता है॥

गृहस्थचिन्ताका फल।

त्यक्त्वा गृहं स्वं परगेहचिन्ता—
तप्तस्य को नाम गुणस्तवर्षे ?
आजीविकास्ते यतिवेषतोऽत्र,
सुदुर्गतिःप्रत्य तु दुर्निवारा॥४६॥

मू० अपना घर छोड कर दूसरेके घरकी चिन्तासे संतप्त-रहने वाले मुने! तुझे क्या लाभ होगा? साधुवेशसे इस भवमें तेरी आजीविका चल सकेगी किन्तु परभवमें तू महा खराब दुर्गतिको न रोक सकेगा॥

वि० जिस वस्तुका एक दफा परित्याग किया हो उसका पुनः संग्रह करना बड़ा ही निन्दनीय काम है इतना ही नहीं परन्तु परित्यक्त वस्तुका संग्रह आत्माके लिये महान हानिकारक है। साधुपद ग्रहण करते समय संसारकी समस्त भावनाओंका, घर बार आदि तमाम निजकीय वस्तुओंका परित्याग किया जाता है, किन्तु गृहस्थोंके साथ अतिपरिचय होनेके कारण यदि उनकी घरबार आदि वस्तुओं पर ममत्व रक्खे, उनके अच्छे बुरेकी चिन्तासे रातदिन संतप्त रहे तो सांसारिक और धार्मिक दोनों ही भावनाओंसे वंचित रहता है। उसका जीवन अतिगर्हित और निजके लिये दुःखप्रद होता है।

जिन भावनाओं एवं वस्तुओंका परित्याग किया था अपने मार्गसे पतित हो फिर उन भावनाओं उन वस्तुओंको संग्रहित करता हुआ "लेने गई थी पूत खो बैठी खसमको" इस कहावतके योग्य बनता है। यद्यपि तू अपनी समझ मुजब तो सुख प्राप्त करनेके लिये ही यह सब प्रपंच रचना कर रहा है, किन्तु यदि तू ज्ञानदृष्टिसे विचार करे तो तुझे स्पष्ट मालूम होगा कि यह प्रपंच रचना ही प्राप्त होते हुये उस वास्तविक सुखको रोकनेवाली है। सर्व प्रकारके प्रपंचोंकी निवृत्तिसे ही परम सुख प्राप्त हो सकता है, अर्थात् सब तरहकी प्रपंच जालसे विमुक्त होने पर ही मुक्तिसुख मिलता है। मुमुक्षुके लिये ज्ञानी पुरुषोंने फरमाया है कि—

मुंच सर्वाणि कार्याणि संगं चान्यैश्च संगतिम्।
भो भव्य! शुद्धचिद्रूपलये वांछास्ति ते यदि॥

हे मुमुक्षु मुने! यदि तू वास्तविक सुख—सच्चिदानन्द में लीन

होना चाहता है तो सांसारिक समस्त कार्यों, बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहों और दूसरोंका संचय परिचय सहवास सर्वथा छोड दे। अन्यथा बाह्य पदार्थोंमें सुख प्राप्तिकी आशा रख उन्हें प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिमें ही जीवन बिताना यह अपने अमूल्य जीवनकी कदर्थना करना है।

कवि तुलसीदासजीने भी कहा है कि

त्यागन कर संग्रह करे विषय भोग संसार।
तुलसी ऐसे सन्तको बार बार धिक्कार ॥

यदि खाने पीने और मौज मजा उडानेके लिये वेश धारण किया हो तो इस बनावटी त्यागी जीवनकी कुछ भी कीमत नहीं। क्योंकि साधारण मनुष्य भी पुरुषार्थ द्वारा अपने जीवन में मौज मजा उडा सकता है। तेरा जीवन तो, जनसाधारण में सर्वोच्च और महाकीमती गिना जाता है, अतएव परित्यक्त वस्तुओंको उच्छिष्ट वस्तुके समान समझ कर उन पर मात्र अनुरागकी भावना भी न रख कर अपने परोपकारी त्यागमय जीवन द्वारा दूसरोंको फायदा पहुँचा कर आत्मकल्याणकी प्रवृत्ति करना यही श्रेयस्कर है ॥

तेरी प्रतिज्ञा और तेरा वर्तन।

कुर्वे न सावद्यमिति प्रतिज्ञां,
वदन्न कुर्वन्नपि देहमात्रात्।
शय्यादि कृत्येषु नुदन् गृहस्थान्
हृदा गिरा वासि कथं मुमुक्षुः ॥४८॥

मू० सावद्य (पापसहित) कार्य न करूंगा इस तरहकी प्रतिज्ञाका प्रतिदिन उच्चारण करता है, तथापि शरीर मात्रसे

सावद्य न करता हुआ तू शय्या वगैरह कार्यों में गृहस्थोंको मन और वचनसे प्रेरणा करता है तो फिर तू मुमुक्षु कैसा? ॥

वि० सांसारिक वृत्तियोंका परित्याग कर साधुपद ग्रहण करते समय तू इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करता है कि

"सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं इत्यादि" अर्थात् हे प्रभु! सर्व प्रकारके सावद्य कार्योंको जीवन पर्यन्त मैं न तो चिन्तन करूंगा, न दूसरों को करनेकी आज्ञा दूंगा, न स्वयं करूंगा। तथा सर्व प्रकार सावद्य कार्य मन वचन कायासे न करूंगा न करा-ऊंगा और न ही अन्य करनेवालेको अच्छा समझूंगा। इस प्रकारकी सख्त प्रतिज्ञा चारित्र धारण करते वक्त ही की थी इतना ही नहीं किन्तु इस कठिन प्रतिज्ञाकी प्रतिदिन तू नव दफा पुनरावृत्ति करता है, उसे पालन करनेके लिये दिनमें नव वार स्मरण करता है। परन्तु वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो किसी बाह्य कारण वश तू मात्र शरीरसे ही सावद्य कार्य नहीं करता, अन्यथा वचन और मनसे तो अनेक प्रकारके आदेश तथा उपदेश सीधे तौरसे एवं दांभिक पड-दोंकी ओटसे तू प्रायः हमेशह करता है और दूसरोंसे किये हुएकी अनुमोदना भी करता है।

इस प्रकार प्रतिज्ञा पालन न करनेसे मायामृषावादका दोष भी लगता है। निवृत्ति मार्गका वास्तविक स्वरूप ध्यान में हो तब ही विचार श्रेणीमें भी सावद्यका परित्याग पल सकता है। जिस मनुष्यको संसारकी वृत्तियोंसे वैराग्य भावना पैदा हुई हो वह सदैव पापभीरु होकर विशेषतः सद्गुण संपादन करनेकी इच्छा रखता है। परन्तु वमन

की हुई वस्तुके समान त्याग किये हुए योगों (मन वचन कायके अशुभ व्यापारों) की ओर दृष्टिपात तक नहीं कर-ता। इस लिये यदि तुझे सच्चा मुमुक्षु बनना हो तो हल-की वृत्तियोंकी ओर लक्ष्य न रखकर सावधान हो अपने तथा दूसरोंके हितकी प्रवृत्ति कर ॥

प्रशस्त दीखनेवाले सावद्य कार्योंका फल।

कथं महत्वाय ममत्वतो वा,
सावद्यमिच्छस्यपि संघलोके।
न हेममय्यप्युदरे हि शस्त्री,
क्षिप्ता क्षणोति क्षणतोप्यसून किम् ॥४९॥

मू० महत्वके लिये अथवा ममत्वसे संघलोकोमें भी सावद्यकी इच्छा करता है, परन्तु क्या सुवर्णकी छुरी पेटमें मारने पर एक क्षणवारमें प्राणोंका नाश नहीं करती? ॥

वि०—इस जगह प्रतिष्ठ सम्बन्धी शिलालेख खोदे जायेंगे, उनमें मेरा नाम आयगा तो लोकमें प्रसिद्धि होगी, कुछ तो इस भावनासे, कुछ मेरे पनकी ममत्व बुद्धिसे और विशेषतः अज्ञानताके कारण सावद्य कार्योंका आदेश उपदेश किया जाता है। किसी भी कार्यमें यदि जरा भी पौद्गलिक आशा रख कर अभिमान या कपट किया गया हो तो वह अशुभ कर्म ही कहा जाता है। अर्थात् बाह्यस्वरूप चाहे प्रशस्त हो अथवा अप्रशस्त परन्तु जिस कार्यमें किसी भी प्रकारकी संसार संबन्धी लालसा हो उस कार्यसे पापबन्ध तथा उसका भयंकर परिणाम अवश्य ही उपस्थित होता है। जिस तरह एक छुरी चाहे सुवर्ण की होने पर रत्नोंसे जडित

हो यदि उसे पेटमें मारा जाय तो अवश्य ही वह प्राणोंका संहार करेगी। इस प्रकार वस्तुस्वभावके मिथ्या खयालसे कितनेएक साधु महाराज धर्मके बहानेसे अप्रशस्त आचरण कर अपनी आत्माको मलीन कर उस निमित्तसे अनन्त भव-संसार बढाते हैं। ममत्व और महत्त्वाकांक्षासे किया हुआ, कराया हुआ और अनुमोदन किया हुआ सावद्य कार्य आत्म जीवन रूप उदरमें पडनेसे वह संयम रूप अथवा सदवृत्तिरूप प्राणोंको हर लेता है। इस लिये सावद्यमुक्त अपने उच्च और पवित्र साधु पदको लक्षमें रख कर ऊपरसे प्रशस्त दीख-नेवाले आरम्भ समारम्भ युक्त कार्योंका आदेश व उपदेश न करना॥

रङ्कः कोपि जनाभिभूतिपदवीं त्यक्त्वा प्रसादाद्गुरो-
वेषं प्राप्य यतेः कथंचन कियच्छास्त्रं पदं कोपि च।
मौखर्यादिवशीकृतर्जुजनता दानार्चनैर्गर्वभाग्,
आत्मानं गणयन्नरेन्द्रमिव धिग्गन्ता द्रुतं दुर्गतौ॥५०॥

मू० कोई गरीब मनुष्य लोगोंके अपमानके योग्य स्थान को छोड़ कर गुरु महाराजकी कृपासे मुनि वेष प्राप्त कर कुछ शास्त्रोंका अभ्यास करता है और कोई पदवी प्राप्त करता है तब अपनी वाचालतासे भद्रिक लोगों को वश कर उनसे प्राप्त हुये दान व पूजासे गर्व धारण करता है और अपने आपको राजाके समान मानता है उन्हें (वैसे वेशधारियोंको) धिक्कार है, वे शीघ्र ही दुर्गतिमें जाने वाले हैं॥

वि०—सांसारिक सर्व वृत्तियाँ सर्व पदवियाँ अपमान के पात्र हैं। गरीब कुल, दूसरोंके मुँह तरफ देखना, दूसरों

की गुलामी भोगना, परतंत्रता युक्त जीवन गुजारना, इत्यादि संसारमें पैदा होनेवाले अनिवार्य सहचारी भाव हैं। इन का परित्याग होना यह महान पुण्यका उदय है। जब महापुण्यका उदय होता है तब सद्गुरु महाराजका समागम प्राप्त होता है, जब इससे भी अधिक पुण्योत्कर्ष बढता है तब ही फिर गुरु महाराजके मुखसे सदुपदेशामृत की धारा मनुष्यके अन्तःकरणरूप क्षेत्रमें पड़ती है। उससे मुनि पद प्राप्तिका उद्गम होता है और उक्त अपमानके पात्र संसारके भावों—वृत्ति प्रवृत्तियोंका परित्याग करना बन सकता है। इस प्रकारका महान् लाभ होने पर मनुष्य शास्त्र सिद्धान्तका अभ्यास करता है। पंडित, उपाध्याय, आचार्य आदि पदवी प्राप्त कर दुनियामें विद्वान्के तौर से प्रसिद्ध होता है। भोले भाले मनुष्य व्याख्यान की छटासे उसके अनुरागी बन कर दान, शील, तप, पूजा, भावनादि धार्मिक क्रियायें करते हैं। परन्तु पंडितादि पदवीको धारण करनेवाला, गीतार्थ कहलानेवाला और अपने उपदेश द्वारा हजारों मनुष्योंको सन्मार्गमें चलानेवाला बिचारा वह धर्मगुरु पुनः संसारकी लालचोंमें पड़ कर धर्मक्रियाओंसे भी संसार चलाता है। सांसारिक वृत्तिओंमें ही आनन्द मानता है। वन्दन पूजनादि सत्कार के समय अहंभाव धारण कर मनमें विचारता है देखो कितने मनुष्य मेरी सेवा करते हैं, मुझे आदर सत्कार देते हैं, कितने मनुष्य मेरी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हैं, मैं कैसा भाग्यशाली हूं!!

अज्ञानताके कारण ही अहंभावनासे यह मिथ्या खयाल पैदा होता है। उसे इस बातका विचार करना चाहिये कि लोगों को आज्ञामें चलानेके लिये उसमें कैसी शक्ति

है। एक सिपाही राजाका फरमान लेकर आता है, उसे सुनते ही या देखते ही मनुष्य उस सिपाहीके अधीन हो जाते हैं। इससे सिपाहीके मनमें यह गर्व पैदा होना कि मैं महान पुरुष हूं अतएव लोक मेरी आज्ञा मान कर मेरे तावेमें होते हैं, सर्वथा मूर्खताका चिन्ह है। वह सिपाही राजकीय पुरुष है, उसके पास राजकीय वर्दी और चपडास है; अतः लोग, उसके द्वारा सुनाये हुये राजकीय फरमानके अधीन होते हैं, किन्तु उसके फरमान या आज्ञाकी कुछ भी कीमत नहीं। साधुके पास सर्वज्ञ देवरूप राजाकी साधु वेश-रूप वर्दी या चपरास (पट्टा) होनेसे और प्रभुकी वाणीरूप फरमान होनेके कारण ही मनुष्य साधुके वचनको सादर ग्रहण करते हैं। यदि उसे अपने व्यक्तित्व पर ही अभिमान हो तो जिस वक्त उसके पास साधुवेश न था उस वक्त कितने मनुष्य उसकी आज्ञा उठाते थे,? कितने जने उसे मान सन्मान देते थे? इस बातका विचार करलेना चाहिये॥

चारित्र प्राप्ति प्रमादत्याग—

प्राप्यापि चारित्रमिदं दुरापं,
स्वदोषजैर्यद्विषयप्रमादैः।
भवाम्बुधौ धिक् पतितोऽसि भिक्षो,
हतोसि दुःखैस्तदनन्तकालम्॥ ५१॥

मू० महाकष्ट से भी प्राप्त होना मुश्किल इस प्रकारका यह चारित्र प्राप्त करके अपने दोषसे पैदा किये विषय और प्रमादद्वारा हे भिक्षु! तू संसार समुद्रमें पडता जा रहा है और उसके परिणाममें अनन्त काल पर्यन्त दुःख पायगा॥

वि० भावार्थ स्पष्ट ही है। ऊपरके श्लोकका ही भाव यहाँ पर प्रगट किया है। कर्मबन्धन द्वारा तेरे सुखके पैदा

किये हुये विषय वासना और प्रमाद दोष हैं। यदि तू अपने जीवनको पवित्र और उच्च बनाना चाहे तो उनका सुगमतासे परित्याग कर सकता है। मात्र लक्ष्य बदलनेकी ही देर है। लक्ष्य बदलनेसे तमाम जीवनकी लाइन ही बदल जाती है। जिस प्रकार एक मोटरका ड्रायवर आगे बैठा हुआ मात्र हेन्डलको घुमाता है, परन्तु हेन्डलके घुमाते ही मोटर उसी दम दूसरे मार्ग पर चली जाती है। इसी प्रकार मनोवृत्तिरूप हेन्डलको हलका लक्ष्यरूप मार्ग से हटा कर उच्च लक्ष्यमार्गकी ओर घुमा देनेकी आवश्यकता है। यह सिद्धान्त हमेशह याद रखना कि उच्च लक्ष्य रखनेसे हलकी वृत्तियां स्वयं नष्ट होजाती हैं।

मनुष्य चाहे जैसा उच्च जीवन बिताता हो, परन्तु जिस दिन उसके अन्तःकरणमें हलकी वृत्तियोंने प्रवेश किया उसी दिन निश्चय समझ लेना कि उस का जीवन अवश्य नीचे गिरेगा। जब तक मानसिक निर्विकल्पता प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त न हो तब तक मनोवृत्तिको उच्च लक्ष्य तरफ प्रेरित कर अपने जीवन जहाज को आगे बढाते रहना चाहिये।

संसारमें उच्च जीवन बितानेके संयोग बडी दुर्लभतासे प्राप्त होते हैं, अतः महात्मन्! देवदुर्लभ चारित्रको प्राप्त कर विषय वासना, प्रमाद आदि महा दोषोंका परित्याग कर अपने आत्मीय सद्गुणोंका विकाश कर।

बोधिबीज प्राप्ति—आत्महित साधन

कथमपि समवाप्य बोधिरत्नं,
युगसमिलादि निदर्शनाद्दुरापम्।
कुरु कुरु रिपुवश्यतामगच्छन्,
किमपि हितं लभसे यतोऽर्थितं प्राक्॥२॥

मू० युगसमिला वगैरह प्रसिद्ध दृष्टान्तों द्वारा दुर्लभतासे प्राप्त होसके ऐसा बोधिरत्न (समकित) पा कर शत्रुओंके ताबे न होकर कुछ भी आत्महित कर जिससे इच्छित सुखकी प्राप्ति हो ॥

वि० शास्त्रमें समकित प्राप्तिके ग्यारह कारण बतलाये हैं। अनुकंपा, अकामनिर्जरा, अज्ञान तप, दान, विनय, अभ्यास, संयोग, वियोग, दुःख, उत्सव, ऋद्धि, और सत्कार।

यह सम्यक्त्व मनुष्यको संसारमें अतीव दुर्लभतासे प्राप्त होता है। मानव जन्मकी दुर्लभताके लिये शास्त्रमें दश दृष्टान्त फरमाये हैं, जो प्रसिद्ध ही हैं। उसमें भी मानव जन्मके उपरान्त महादुर्लभ बोधिरत्न (सृष्टिमात्रकी वस्तु स्थितिका तत्वज्ञान और तदनुसार सम्यग् श्रद्धान) का प्राप्त होना यह कितना दुर्लभ है सो निम्न लिखे दृष्टान्त द्वारा समझ लेना।

एक देवता आकाशमें से सौ मण वजन वाला एक लोहेका गोला जमीन पर फेंके, उस लोहके गोलेको जमीन तक आते हुये छः महीने व्यतीत हो जायँ, इतने समयमें अति वेगसे आते हुये उस गोलेने जितनी लंबाईके क्षेत्रका अवगाहन किया है उतने लंबे क्षेत्रको जैन शास्त्रमें एक राज कहते हैं। इस प्रकारके अर्धराज प्रमाण वाला लोकान्तमें रहा हुआ स्वयंभूरमण नामक समुद्र है। उस समुद्रमें एक किनारे गाडीका जुवा डाल दिया जाय और दूसरे किनारे उस जुवेकी सैल (जुवेमें जोत अटकानेकी कीलिका) डाल

दी जाय और वे तरते हुये उस महान् अन्तरका अन्त कर समीपमें इकट्ठे हों; यह बडा ही दुर्लभ कार्य है और इकट्ठे होकर सेलका स्वतः जुवेके अन्दर प्रवेश करना यह तो एक प्रकारसे अतीव दुष्कर है। इसी प्रकार अनन्त संसारमें परिभ्रमण करते हुये जीवात्माको प्रथम तो मानव जन्मकी ही प्राप्ति अति दुर्लभ है और उस पर भी बोधिरत्नका प्राप्त होना तो महादुष्कर है।

महात्मन्! पूर्वोक्त दृष्टान्तसे महा दुष्प्राप्य बोधिरत्नको प्राप्त करके भी यदि तू क्रोध मान माया लोभादि अन्तरंग शत्रुओंके अधीन होगा तो स्मरण रखना कि इस तेरे महा कीमती रत्नको लूट कर वे तुझे भवकूपमें डाल देंगे, वहाँ पर तुझे अनन्त दुःखवेदनायें सहन करनी पडेंगी और एक दफा हाथसे गई हुई यह अमूल्य सामग्री पुनः प्राप्त होनी महादुर्लभ हो जायगी। अतः मनकल्पित सांसारिक तुच्छ सुखोंकी लालसा छोड कर वास्तविक सुख मोक्ष प्राप्त करनेके उपायोंमें लगा रह॥

तेरे शत्रुओंके नाम

द्विषस्त्विमे ते विषयप्रमादा,
असंवृता मानसदेहवाचः।
असंयमाः सप्तदशापि हास्या—
दयश्च बिभ्यच्चर नित्यमेभ्यः॥५३॥

मू० तेरे शत्रु—विषय प्रमाद, अंकुश वगैरका मन, शरीर और वचन, सत्रह असंयमके स्थानक तथा हास्यादिक षट् हैं। इन्होंसे तू निरन्तर डरते हुए चलना॥

वि० मनुष्य अज्ञानतावश दूसरे मनुष्योंसे वैमनस्य होजाने पर अपना शत्रु समझ उन्हें जीतनेका, दमन करनेका प्रयत्न करता है, परन्तु जो दूसरोंके साथ शत्रुभाव पैदा कराते हैं और जो सदैव अपने पास रहकर भव भवान्तरोंमें भी सदा काल अपने साथ कट्टर शत्रुभाव रखते हैं उन्हें जीतनेका या दमन करनेका मनुष्य कभी प्रयत्न ही नहीं करता; वास्तविक शत्रु जो रातदिन मनुष्यके पीछे पड़े हैं उनकी ओर उसका ध्यान तक नहीं जाता। यदि मनुष्य उन्हें जीतना चाहे--जो कि बड़े दुर्जेय हैं तथापि उसे किसी शस्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती और उन्हें दमन करनेके लिये--जीतनेके लिये उसे आठों पहर समय मिल सकता है।

अत: महात्मन् यदि तू अपने पदके अनुसार संसारके समस्त प्राणधारियोंके साथ मैत्री भाव रखना इच्छता हो तो अपने आन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर, तेरे जीवनमें रही हुई त्रुटिओंको दूर कर। मुख्य वृत्त्या अनादि कालसे तेरे साथ ही रहनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ नामक ये तेरे चार शत्रु हैं। ये ही कुछ न कुछ बाह्य निमित्त उपस्थित कर तुझे अनेक प्रकारके दु:ख देते हैं परन्तु तेरी मूर्खताके कारण तू उस बाह्य निमित्त को ही अपना शत्रु मान लेता है जो इन तेरे अन्तरंग शत्रुओं द्वारा उपस्थित किया गया है। यदि तू बराबर विचार करेगा तो तुझे मालूम होगा कि वह बाह्य निमित्त तेरा शत्रु नहीं है। तेरे शत्रु तो तेरी ही बगलमें छिप कर खड़े हैं, तू उधर लक्ष्य ही नहीं करता, इसी कारण तू पद पद में दु:खका अनुभव कर रहा है।

इन अन्तरंग शत्रुओंको जीतने के लिये तुझे अन्तर शस्त्र

ही चाहिये, क्रोध शत्रुको जीतनेके लिये क्षमा शस्त्र काफी है। समय आने पर इस शस्त्रका बराबर उपयोग करेगा तो अवश्य ही तू अपने शत्रुको दमन कर सकेगा। मान नामक शत्रुको जीतनेके लिये निरहंकारता नामक शस्त्रको धारण कर। इस शस्त्रसे तेरा शत्रु शीघ्र ही परास्त हो जायगा। माया नामक शत्रुको सर करनेके लिये सरलता रूप शस्त्र ग्रहण कर। इस शस्त्रको देखते ही तेरा शत्रु खड़ा न रहेगा, वह भागता ही नजर आयगा। लोभ नामक शत्रुको दमन करनेके लिये तुझे संतोष रूप शस्त्र धारण करना चाहिये। इस शस्त्रसे अवश्य ही तेरे शत्रुका सिरच्छेद हो जायगा। इन पूर्वोक्त चारों शत्रुओंके परास्त हो जाने पर इनके सहायक पाँचो इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द, रूप पाँचों विषय अथवा इनके अवान्तर भेद तेईस विषय स्वयं दूर भाग जायँगे। पाँच प्रकारका प्रमाद भी तेरे शत्रुओंका परम सहायक है। परन्तु यह स्मरण रखना कि मुख्य चार शत्रुओंका नाश होने पर उनके सेवक तरिके कार्य करनेवाले तेरे समस्त शत्रुओंका विनाश हो जायगा और फिर तेरे हृदय मंदिरमें चमत्कारी आत्मीय गुणोंका प्रादुर्भाव होने लगेगा।

प्राप्त सामग्री और उसका उपयोग—

गुरूनवाप्याप्यपहाय गेह—
मधीत्य शास्त्राण्यपि तत्त्ववाञ्चि।
निर्वाह चिन्तादि भराद्यभावे,
ऽप्यूषे ! न किं प्रेत्यहिताय यत्नः॥ २४॥

पू०—हे मुने ! महान् गुरुकी प्राप्ति हुई, घरबार छोड़ा, तत्त्व प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थोंका अभ्यास किया और निर्वाह करनेकी चिन्ता वगैरहका भार भी उतरगया तथापि परभवके हितार्थ क्यों नहीं प्रयत्न होता ?

वि० महात्मन् ! पूर्व पुण्योदयसे तुझे सद्‌गुरुकी प्राप्ति हुई है, गुरुमहाराजके सदुपदेशसे किंवा पूर्वजन्मके संस्कारसे संसारके वैभवोंको तुच्छ और क्षणभंगुर समझ कर तूने धन धान्य वगैरहका परित्याग किया है। घरबार, स्त्री, पुत्र, पौत्रादि प्रिय संबन्धी जनोंका त्याग किया है। तू बालबच्चों के भरण पोषणकी चिन्तासे मुक्त हुआ है। कुटुम्बका परित्याग करनेके कारण तू संसारके अलीक व्यापार धंधोंकी चिन्तासे भी मुक्त हुआ है। सबसे कीमती तुझे कुछ तत्वज्ञान–द्रव्यानुयोगकी फीलोसोफीका रहस्य भी प्राप्त हुआ है। महा पुण्योदयसे मिली हुई इन सर्व सामग्रियोंको प्राप्त करके भी तू पुनः संसारकी उच्छिष्ट वस्तुओंमें मन लगा कर अपने महाकीमती जीवनको व्यर्थ खो रहा है। महात्मन् ! तेरे अन्तःकरणमें जिन लालचोंका जन्म होता है वे सब तेरे कट्टर शत्रु हैं। अज्ञानताके कारण तू स्वयं अपने शत्रुओंको जन्म देता है और स्वयं ही उनका पालन पोषण करता है। "पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्" सर्पको दूध पिलाना मात्र उसके विषको बढाना है, इसी प्रकार अपने भीतर रही हुई लालचोंका पोषण करना अपने कट्टरे दुश्मन का बल बढाना है।

यदि अपने घरके आंगनमें विषवृक्ष जम गया हो तो उसके जमते हुये अंकुरको ही नष्ट करना चाहिये, अन्यथा जब

वह बढ जायगा तो उसका उखेड़ना बड़ा कठिन और दुः-साध्य हो जायगा। अपने हृदयरूप आंगनमें पैदा होने वाली लालचोंको पुष्टि न देकर उन्हें जन्म लेते समय ही कुचल डालना चाहिये। अन्तःकरणमें जन्म धारण करनेवाली अपने शत्रुरूप संसार की अनेक प्रकारकी लालचोंके सामने मानसिक दुर्बलताके कारण सहानुभूतिकी नजरसे देखना ही उन्हें पुष्टि करना है।

यद्यपि इस पुस्तकमें बाह्याचार पर भी विशेषतः जोर दिया गया है तथापि इससे यह नहीं ग्रहण करना कि बाह्याचार ही चारित्र या अद्वितीय आत्मसाक्षात्कारका मुख्य मार्ग है। ऐसा नहीं है किन्तु व्यवहार शुद्धिके लिये बाह्याचारको प्राधान्य पद दिया गया है। आत्मसाक्षात्कारका या शुद्ध आत्म स्वरूपकी प्राप्तिका मुख्य मार्ग तो मानसिक पवित्रता ही है। मानसिक पवित्रता विना मात्र बाह्याचारकी पवित्रता अपने साध्यकी सिद्धिमें कुछ भी काम नहीं आसकती। इस लिये बाह्याचारके साथ मानसिक पवित्रता प्राप्त करनेका यही मार्ग है कि सदा काल अपने साध्य पर लक्ष्य रक्खो और कदाचित् किसी प्रसंग वश आपके अन्तःकरणरूप गृहांगणमें संसार संबंधी कोई लालचरूप आपका शत्रु जन्म धारण करता मालूम पडे तो उसे उसी वक्त नष्ट करनेका प्रयत्न करो। अर्थात् संसारके पदार्थोंकी आसक्ति पर संयम प्राप्त करनेसे, उन वस्तुओं परके मोहसे स्वतंत्र होनेसे, ही मानसिक पवित्रता प्राप्त होती है। जिन जिन पदार्थों पर मोह पैदा होता है वे सभी संसारी प्राणियोंका उच्छीष्ट हैं और अनन्त भवोंमें उन पदार्थोंकी प्राप्ति हुई है तथा जहांतक जन्म धारण करने बाकी हैं वहांतक भव भवमें उन पदार्थों

का समागम होगा। सच्चा साधुपन संसारकी लालचों तरफ न देख अपने अभिष्ट मार्गमें प्रयाण करनेसे प्राप्त होता है। यद्यपि इस परम सत्यके मार्गमें चलनेवाले महापुरुषोंको अनेकानेक विघ्नबाधायें होती हैं तथापि अपनी साम्यता कायम रख धैर्य और सत्वके साथ उन विघ्नबाधाओंको दमन कर अपने ध्येयकी प्राप्तिमें वे सदैव प्रयत्न शील रहते हैं। वे परमसत्यके मार्गसे न डिगनेके लिये अनेक प्रकारके कष्ट सहन करते हैं, शरीर तकको समर्पण कर देते हैं परंतु परम सत्यके—आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके मार्गसे पीछे नहीं हटते।

दृष्टान्तके तोर पर परमसत्यके मार्गमें चलनेवाले एक महात्माकी छोटीसी कथा है –

वह महात्मा अपने साध्यको सिद्ध करनेके लिये एक पर्वतकी गुफामें रह कर ध्यान किया करता था। दो चार दिनके बाद जब भूख सताती तब पर्वतके समीपवर्ती मार्गों पर फिरता। मार्ग चलनेवाले किसी मनुष्यसे आहार मिल जाने पर अपने स्थान पर आकर खा लेता और पुनः अपने आत्मध्यानमें लीन हो जाता॥ एक दिन वह महात्मा आहार की तलाशमें पर्वतके नजीक चलनेवाले रास्तोंपर फिर रहा था। दैव योग उसे एक नव योवना स्त्री मिल गई। उसके पास कुछ खानेका साधन था अतः उस स्त्रीने महात्माको कुछ अन्न दिया। महात्मा उस अन्न को ले पर्वतकी गुफामें चला गया। दूसरे दिन रास्तोंपर उस महात्माको भोजन न मिलनेसे वह गांवकी ओर चला। गांवके समीप पहुंचते ही उसे वही स्त्री जिसने प्रथम एक दफा भोजन दिया था मिष्टान्न आहार लिये सामने आती मिली। उसने साधुको आहार दिया,

साधु महात्मा आहार ले पीछे जंगलमें लौट गया। फिर तीसरी दफा एक रोज वह महात्मा आहारके निमित्त गांवमें आ रहा था! रास्तेमें वही स्त्री और दिनकी अपेक्षा अति स्वादिष्ट भोजन लिये मिली। उसने साधु महात्माको भोजन दिया। देते समय बोली—महाराज! आज देरीसे निकले, मैं कबसे आपकी बाट देख रही हूं, आपकी राह देखते देखते मेरी आंखें भी फट गईं आपकी आंखोंने मुझे मोहित किया है? महात्मा उस स्त्रीके मुखसे पूर्वोक्त वाक्य सुन कर उससे ग्रहण किये हुये अन्नको लेकर दूसरे घर गया। वहांसे रूखी सूखी रोटी ले जंगलमें अपने स्थान पर चला गया। वहां जाकर उसने उस स्त्रीवाले स्वादिष्ट अन्न को जंगलमें फेंक दिया और दूसरे ठिकानेसे मिले हुये सूखे टुकडे खा लिये। दूसरे दिन उस महात्माने कहींसे एक लोहका तकवा लाकर उससे अपनी आखें निकाल डाली! आहारका समय होने पर आंखोंके (निकाले हुये) डोले एक चीथड़ेमें बांध कर साथ ले और हाथमें एक लकडी लेकर उसके सहारे गांवकी ओर चल पडा। रास्तेमें आज तो वह भाग्यवती बडी ही उत्सुकता से बाट देख रह थी। महात्माको देखते ही बोल उठी—पधारो स्वामिन्? मैं आपकी बाट ही देख रही हूं। साधुकी दृष्टि नीचे जमीनकी ओर थी इस लिये वह स्त्री अभीतक महात्माकी स्थितिसे अनभिज्ञ थी। वह स्वादिष्ट भोजन लेकर महात्माके सामने आई। महात्मा उस युवतीके सामने एक चीथडेमें बँधे अपनी आंखोंके डोले रखकर बोला—माता? ये आंखें लो, जिन आंखोंने तुम्हें मोहित किया है वे ही ये आंखें हैं। इन्हें उठा लो इन पर तुम्हारा अधिकार है, इन्हें

मनमाना प्यार करो, परन्तु कृपा कर मुझसे किसी बातकी आशा मत रखना, किसी आकांक्षासे मुझे मेरे मार्गमें चलायमान करनेका प्रयत्न न करना ॥

इस दृष्टान्तसे यहाँ पर यह सार ग्रहण करना चाहिये कि यदि अपने कर्तव्य-सत्यमार्गमें चलते हुये अपनी आंखें भी हरकत करती हों तो उनकी भी परवा न करना। कर्तव्य पथमें—अंगीकृत परम सत्यके मार्गमें हरकत करनेवाली अपनी आंखोंका परित्याग करना पड़े तो भले, किन्तु अपने अभिष्ट परम सत्यमार्गका परित्याग न करना। आत्मा अधोगतिमें जाय उससे शरीरको प्रकाश न मिले तो बेहतर है। यदि अपने कर्तव्य मार्गमें अपनी प्यारीसे प्यारी वस्तु हरकत पहुँचाती हो तो उसका त्याग ही करना बेहतर है। **संसारमें प्रियमें प्रिय वस्तु अपना कर्तव्य ही है।** जो मनुष्य सांसारिक तुच्छ लालचके लिये अपने कीमती कर्तव्यका परित्याग करता है उसका जीवन ही निन्दित गिना जाता है। इस लिये महात्मन्! अपने लक्ष बिन्दुकी ओर ध्यान रख कर प्राप्त की हुई सर्व सामग्री का सदुपयोग कर और जीवन दौड़में हरकत पहुँचानेवाली लालचोंकी तरफ दृष्टिपात ही न कर। अपने कर्तव्य मार्गमें दृष्टि रख कर भरसक प्रयत्न करता रहे, इससे तू अवश्य ही अलौकिक शाश्वत सुखको प्राप्त करेगा ॥

अंगीकृत संयमकी विराधनाका फल

विराधितैः संयमसर्वयोगैः,
पतिष्यतस्ते भवदुःखराशौ।

शास्त्राणि शिष्योपधिपुस्तकाद्या,

भक्ताश्च लोकाः शरणाय नालम् ॥५५॥

मू०— संयमके सर्वयोगोंकी विराधना करनेसे जब तू भव-दुःखकी राशिमें पडेगा उस वक्त शास्त्र, शिष्य उपाधि, पुस्तकादि एवं भक्त लोग कोई भी तुझे शरण देनेके लिये शक्तिमान् न होगा ॥

वि—संयमके सतरह भेदोंकी विराधनाका फल क्या होता है यह बात पूर्वके श्लोकों द्वारा अनेक दफा स्पष्ट होचुकी है। दुर्गतिगमन और अनन्त भवभ्रमण यह संयमकी विराधना-अंगीकृत संयमको प्रमादवशात् किंवा परित्यक्त किसी तुच्छ वस्तुकी लालचसे खंडन करनेका अनिवार्य फल है।

साधुका वेश धारण कर चाहे जितने पुस्तकोंका भंडार संग्रह किया हो, ज्ञान रक्षणका नाम ले भक्त गृहस्थोंके हजारों रुपये खर्च करा कर अपने नामके चाहे जितने पत्थरके पुस्तकालय बँधवाये हों (जिन्हें कि उन साधुओंके मठ भी कहे जा सकते हैं और जिन मठोंको अपने अपने नामसे बँधवानेकी आजकल विशेष नयी प्रवृति बड़े बड़े साधुओंमें देख पडती है) चाहे जितने शिष्योंका टोला बढा कर आप सबसे बड़े महाराज कहलाते हों और उन पर अपना हुक्म चला कर ठकुराई भोगाते हों, अपने कर्तव्यको भुलावे उस प्रकार धार्मिक क्रियाके नामसे सैकड़ों स्त्रियोंको इकट्ठी कर उद्देश समझाये विना ही उन्हें किसी अमुक धर्मक्रियामें प्रवेश करा कर उन पर हुक्म चलाने और उनकी भक्तिभरी आजीजिका या

चापलोसीसे मनमाने चाहे जितने खुशी होवो, साधुपनमें दूषणरूप चाहे जैसी बारीक मलमलके वस्त्र पहन कर तथा कीमतीसे कीमती दुशाले ओढ कर मनमें खुशी होवो, अपनी चतुराईसे भद्रिक लोगोंको अपने भक्त बना कर चाहे गांव गांवमें स्वागत-आडंबरी समारोहके साथ प्रवेश कर अपनी प्रसिद्धिके समाचार अकबार पत्रोंमें छपवा कर मारे खुशीके फूले न समाओ और चाहे ताजिन्दगी अपने दुष्कृत्योंको बाह्य धार्मिक क्रियाके पडदेमें छिपा रक्खो परन्तु जिन दुष्कृत्योंके लिये मृत्यु समय आत्मा ही गवाही देगी उस समय पूर्वोक्त ठकुराई कुछ भी काम न आयगी, बल्कि दुर्गति जानेमें वे समस्त वस्तुयें आगे धकेलेंगी। अंगीकृत संयममें लगाये हुये दूषणोंका फलोदय होने पर परम भक्त लोग भी कुछ सहायता न दे सकेंगे। इस लिये महात्मन्! इन सांसारिक तुच्छ लालचोंका परित्याग कर अपने कर्तव्य मार्गमें गमन किया कर। अन्यथा यह तो निर्विवाद सिद्ध ही है कि अंगीकृत चारित्रकी विराधना—उसमें दूषण सेवन करनेका फल घोरातिघोर दुःखदायक दुर्गति ही है॥

(संयमसे सुख)

यस्य क्षणोऽपि सुरधामसुखानिपल्य-
कोटीर्नृणां द्विनवतीं ह्यधिकां ददाति।
किं हारयस्यधम! संयमजीवितं तत्,
हा हा प्रमत्त पुनरस्य कुतस्तवाप्तिः॥५६॥

मू०— जिसका एक क्षण—मुहूर्त्तमात्र भी बाणवें करोड पल्योपमसे भी अधिक समय तक देवलोकके सुख देता

है ऐसे संयम जीवनको हे अधम ! तू क्यों हार रहा है हे प्रमादी ! पुनः तुझे इस संयमकी प्राप्ति भी कहांसे होगी ! ॥

वि० देवलोक आदिके संसारिक सुख तो संयमी महापुरुषोंके अक्रीत दासके समान ताबेदार ही होते हैं । परन्तु उनका ध्येय उसे प्राप्त करनेका नहीं होता । उन महात्माओंका ध्येय तो विनश्वर सांसारिक सुखोंसे पर शाश्वत मोक्षसुखकी प्राप्तिका होता है । परन्तु जिस प्रकार खेती करनेवाले एक किसानका धान्य प्राप्ति करनेका ध्येय होने पर भी उसे घासकी प्राप्ति भी स्वतः ही हो जाती है,, उसी प्रकार संयमी महात्माओंका ध्येय उससे ऊंचा होने पर भी सांसारिक सुख तो उन्हें स्वतःही प्राप्त होजाते हैं और ये सुख मोक्षप्राप्तिके मार्गमें उन महात्माओंको विश्रान्तिस्थान रूप होते हैं । संयमकी करणीमें इस प्रकार की शक्ति या प्रभाव रहा हुआ है कि यदि दो घटिका शुद्ध संयम पालन किया हो तो देवलोक सम्बन्धी चिरकालिक सुख प्राप्त होता है । शास्त्रमें फरमाया है कि—

सामाइयं कुणंतो समभावं सावओय घडियदुगं ।
आउं सुरेसु बंधइ इत्तियमित्ताइं पलियाइं ॥
बाणवइ कोडीओ लक्खागुण सट्ठिसहस पणवीसं ।
नव सय पणवीसाए सतिहा अड भाग पलियस्स ॥१॥

भावार्थ सामायिक-देशविरति संयम धारण करता हुआ श्रावक दो-घड़ी समभावमें वर्तता हुआ यदि आयुका बन्ध करे तो देवगति सम्बन्धी इतने लंबे आयुका बन्ध करता है बाणवे करोड, उणसठ लाख, पच्चीस हजार, नवसौ और

पच्चीस तथा तीन आठवाँ भाग (९२, ५८, २५, ९२५३) इतने पल्योपमका देवता सम्बन्धी आयु बाँधता है।

सामायिक यह एक प्रकारसे कमसे कम दो घडीका संयम है, इस दो घडीके संयममें भी यदि मनुष्य आयु बाँधे तो देवगतिका पूर्वोक्त चिरकालिक आयु बाँधता है। उस दो घडीके संयमका फल देवलोकमें जाकर उतने लंबे समय तक भोगता है। विचार करनेकी बात है, जो वस्तु मात्र दो घडी सेवन करने से चिरकाल पर्य्यन्त देवलोकके सुख देनेमें समर्थ है यदि उसे विशुद्ध रीतिसे जीवन पर्य्यन्त सेवन किया जाय तो मोक्ष सुख प्राप्त होना क्या कुछ दूर है?

साधुका समस्त जीवन पूर्वोक्त लाभदायक संयममें ही है, या यों कहना चाहिये कि साधु जीवनका ही नाम संयम है। यदि साधु मुनिराज अपने साधु जीवनके कर्तव्योंको यथार्थ रीतिसे पालन करे तो वह उसी भवमें मोक्षकी प्राप्ति करता है। कदाचित् तथाप्रकारकी भावविशुद्धिके अभावसे अथवा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी परिस्थितिके कारण प्रयत्न करने पर भी अपने कर्तव्यको पूर्णतया न पाल सके तो पूर्वोक्त देवलोक आदि सुख भोगनेके स्थान प्रथम कथन किये मुजब उसके लिये विश्राम स्थानके समान हैं। वहाँसे पुनः मनुष्यजन्म धारण कर वह एक अथवा दो तीन भवमें तो अवश्य ही अपने साध्य परमपद मोक्षको प्राप्त करेगा। अतः मोक्षकी सडकरूप प्राप्त किये हुये साधुजीवन-संयममें सदैव दत्तचित्त हो कर अपने कर्तव्योंका पालन करना चाहिये॥

नाम्नापि यस्येति जनेसि पूज्यः,
शुद्धात्ततो नेष्टसुखानि कानि।

तत्संयमेऽस्मिन यतसे मुमुक्षो,
नुभूयमानोरुफलेपि किं न ॥५७॥

मू०—संयमके नाम मात्रसे भी लोगोंमें यदि तेरा पूजा सत्कार होता है तो उसके शुद्ध होनेसे कौनसा इष्ट फल तुझे न मिले? जिस संयमका महान् फल प्रत्यक्षमें अनुभव किया जाता है, हे मुमुक्षो (मोक्षकी इच्छा रखनेवाले) उस संयममें तू क्यों नहीं प्रयत्न करता? ॥

वि० इस श्लोकका भावार्थ तो स्पष्ट ही है, प्रथमके श्लोकोंमें यह भावार्थ सविस्तर दर्शा दिया गया है। समझदार को इसारा मात्र ही काफी होता है। जिस वर्गको उद्दिश्य कर यह ग्रंथ लिखा गया है वह पूज्य मुनिवर्ग विद्वान वर्ग है. अतः वह थोडे को घना समझ कर अपने योग्य उपदेश ग्रहण कर सकता है। उस वर्गके लिये इतना उपदेश काफी है। जो अभी तक संयम मार्गमें आये ही नहीं वे भी संयमीय सुख और उसके परम प्रशस्त परिणाम की ओर लक्ष्य देसकें तथाप्रकारकी योजना भी ग्रन्थकर्त्ताने रक्खी है। उस योजनाको ध्यानमें रख कर ही इस विषय पर विवेचन किया गया है।

जो वर्ग वक्र होकर अपने दुष्ट कृत्योंका बचाव करता है, संयमी कहिला कर भी गृहस्थोंसे भी विशेषतया अपनी इंद्रियों एवं मनको निरंकुश रखता है और साधुके वेशमें धर्मगुरु कहला कर अपनी आजीविका चलाता है, अपनी लालचोंको पूर्ण करता है वह वर्ग कदापि सामान्य उपदेश द्वारा नहीं सुधर सकता। वक्र स्वभाववालों पर चाहे

उतना सामान्य वाक्प्रहार करो किन्तु सब व्यर्थ जाता है। इस प्रकारके धर्मगुरुओं--साधु वेश धारियोंके लिये स्वतः ग्रन्थकर्त्ताने ही कहीं कहीं पर कठिन शब्दोंका प्रयोग किया है, सो भी उनके एकान्त हितकी भावना हृदयमें रख कर, वे किसी भी प्रकारसे अपने मार्गमें आजायें मात्र इसी उद्देशसे कहीं कहीं पर कठिन वाक्योंमें उपदेश दिया है। यदि उन कठिन वाक्योंवाले उपदेशसे भी वे महानुभाव अपने कर्तव्य पथ पर आजायें तो इस ग्रंथ रचनेका ग्रन्थ रचयिता का उद्देश पूर्ण हो सकता है।

इस विषय पर विवेचन करते समय अथवा इस विषय को विशेषतः स्पष्ट करते समय हमने मूल ग्रन्थकार श्रीमान् मुनिसुन्दरसूरि महाराजके उद्देशको लक्ष्यमें रख कर ही कलम चलाई है। अन्यथा आधुनिक धर्मगुरुओंको अपने कर्तव्य मार्गसे नीचे उतर जानेसे उनके आचार पर सविस्तर टीका हो सकती है। परन्तु यहां पर किसी व्यक्तिके आचार पर टीका करनेका कोई कारण नहीं, उद्देश मात्र इतना ही है कि जिसे जो उच्च अधिकार प्राप्त हुआ हो और उस अधिकारका पात्र वह अपने आपको मानता है तथा उस अधिकारके अधिकारीके योग्य मान सन्मान प्राप्त करता हो और जनतामें इस बातका घमंड करता हो कि मैं अपने अधिकार का यथार्थ पालन करता हूं उसे उस पवित्र अधिकारके योग्य कर्तव्योंसे मुँह चुराकर मात्र बाह्याडम्बर द्वारा बिचारे भोले-अज्ञान गृहस्थों को अपना अनुरागी बना उनसे अपनी स्वार्थवृत्तिपूर्ण कर अपने अमूल्य मानव जीवनको व्यर्थ ही नष्ट न करना चाहिये।

महावीरके बडे पुत्र साधु मुनिराजोंके लिये पूर्व कालमें एक समय ऐसा विषम आया था कि जिस समयमें वे त्यागी महात्मा संसारकी लालचोंमें फस कर सर्वथा ही अपने कर्तव्योंसे परांमुख हो बैठे थे। यद्यपि उस समय कितने एक त्यागवृत्ति प्रिय महात्माओंने महावीरके उस कठिन साधुमार्गको कायम रखनेके लिये क्रिया उद्धार किया था, परन्तु वह क्रिया उद्धार जितनी उत्कर्षता तक होना चाहिये था उतना न होनेके कारण ही आज हमारे पूज्य धर्मगुरु महाराज अर्धचैत्य वासीपन भोगते हुये भी अपने आपको शुद्ध साधु मानते हैं और लोगोंको मनाते हैं। अपने अनुरागी गृहस्थ या अपने शिष्य भले ही उन्हें परम त्यागकी मूर्ति मानते हों या पत्रोंमें सागर सम गंभीर, मेरु सम धीर, भारंड पक्षीवत अप्रमादी और त्यागी वैरागी सर्वगुण भंडार आदि आरोपित गुण-समूह लिखें, परन्तु अन्तरात्मा तो यह बेधडक कबूल करती है कि महावीरके उस कठिन साधु मार्गमें चलनेवाले महात्माओंके लिखे हुये साधु आचारके मुताबिक अपने मुनिजीवनमें मणमें आधा सेर भी मुनिआचार नहीं।

बुद्धिमान् इस बात पर स्वयं विचार कर सकता है कि जो मुनिमार्ग धर्मग्रन्थोंमें तलवारकी धारके समान कहा है, और जो महा दुर्गमनीय कहा है आज उस मार्गमें चलने वाले साधु मुनिराजाओंने अपनी अनुकूलतानुसार उसे कितना सरल और सुगम बना डाला है? इसका कारण पंचम काल या देशकालकी परिस्थिति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पंचम कालमें भी देश कालकी परिस्थितिके अनुसार तो आज जिस प्रकारका साधु मुनिराज साधुपना पाल

रहे हैं उससे हजार दर्जे अधिक त्यागवृत्तिवाला साधुपन पल सकता है। द्रव्य—क्षेत्र, काल, भावानुसार भी साधु पना न पलनेका कारण साधुओंकी मानसिक दुर्बलता. और साधु पनको नष्ट कर डालनेवाली अनेक प्रकारकी तुच्छ लालचें ही होसकती हैं। साधुओंको साधु पदसे पतित करनेमें गृहस्थोंका अति परिचय भी एक महान् कारण है। प्रथमके साधु किसी प्रकारकी स्पृहा न होनेके कारण गृहस्थ लोगोंसे विशेष परिचय न रखते थे। जबसे साधु ओंमें अनेक प्रकारकी स्पृहाने घर किया तभीसे उन्हें अपने ध्येयसे परांमुख हो गृहस्थोंका खुसामदी टट्टु बनना पड़ा है। "निस्पृहस्य तृणं जगत्" जिस महात्माको किसी प्रकारकी स्पृहा नहीं उसके लिये संसारभर तृण समान है।

आशाया ये दासाः सर्व लोकस्य,
आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकाः॥

जो महात्मा होकर भी किसी प्रकारकी आशाके दास बनते हैं उन्हें अपनी आशा पूर्ण करनेकी लालचसे अवश्य ही लोगोंका दास बनना पडता है, लोगोंकी हांमें हां मिला-कर चलना पडता है और जिन महात्माओंने मात्र आशाको अपनी दासी बना लिया है संसार भरके मनुष्य उन महात्माओंके दास बन कर रहते हैं।

वर्तमान कालीन साधुपन तो बड़ी ही खराब परिस्थितिमें आ पड़ा है। ब्रह्मचर्यकी जिन नवगुप्तियों किंवा नव

आज्ञोंका संक्षेपसे वर्णन प्रथम आ चुका है, उनका पालन करना आधुनिक परिस्थितिके प्रसंगोंमें साधु मुनिराजके लिये महा दुस्साध्य है। जिस प्रकार एक महा दुर्गम पहाड़के शिखर पर चढ़ना महामुस्किल है उसी प्रकार साधु जीवन गुजारना संयमका पालना सदैव दुस्कर कार्य है। उसमें भी आज पंचम कालीन प्रवृत्तिमय जमानेमें गृहस्थोंके समागममें रह कर अनेक प्रकारके विषम प्रसंगोंमें परम निवृत्तिमय पवित्र साधु जीवन जीना अत्यन्त कठिन कार्य है। रात दिन भक्त श्रावक श्राविकाओंके परिचयमें रह कर "दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्ट गामीणं" दुर्गमनीय महावीर प्रभुके मार्गमें चलना उतना ही कठिन काम है जितना कि लोहेके चने चाबना। परम त्यागमूर्ति प्रभु महावीरका कथन किया हुआ निवृत्ति मार्ग मनुष्य मात्र के लिये परम शान्तिप्राप्तिका राज मार्ग है। परन्तु जिस मार्गमें अनेक प्रकारकी वासनाओंका एक या दूसरे प्रकारसे पोषण होता हो, अपनी क्षुल्लक लालचोंको पूर्ण करनेके लिये अपने कर्तव्यसे विरुद्ध अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें जीवन व्यतीत होता हो उसे भले ही महावीरका छोड चाहे आदीश्वरका मार्ग कहो, परन्तु सर्वज्ञ देवके परम पवित्र सत्यके मार्गसे वह लाखों कोस दूर है। वर्तमान कालिक साधु मार्गको त्यागी शिरोमणि महावीरका निवृत्ति मार्ग कहना वैसा ही है जैसा कि अपनी वृत्तियां पूर्ण करनेके लिये एक तुकबन्दी बना कर उसे किसी महा कविके नामसे प्रसिद्ध करना।

महावीर देवके अनुयायी—महावीर के पुत्र कहलानेवाले मुनिवरोंमें एवं महावीरके पूजारी गृहस्थोंमें धार्मिक प्रवृत्तिके

विषयमें तो बडी ही विचित्रता देख पडती है। उन्होंने अपनी अपनी अनुकूलताके अनुसार ही महावीर कथित साधु आचार एवं श्रावकाचार मान लिया है। गृहस्थ लोग तो अपनी सांसारिक वृत्तियोंमें ही मशगूल रहनेके कारण महावीर कथित साधु आचार और गृहस्थाचारको स्वतः जाननेके लिये असमर्थ ही हैं, किन्तु पूज्य मुनिराजोंसे महावीर प्रतिपादित परम निवृत्तिमय निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग एवं यत्नामय गृहस्थ का मार्ग अज्ञात नहीं है। परन्तु पूज्य साधु मुनिराज मानेपणा, लोकेपणा, एवं अन्य भी अनेक लालचोंके वश हो जानेसे स्वतः अपने कष्टमय मार्गसे नीचे फिसल पडनेके कारण गृहस्थोंको भी वे यही उपदेश करते हैं कि सर्वज्ञ देव कथित परमत्याग एवं परम निवृत्तिमय और मोक्ष प्राप्तिका अद्वितीय कारण निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग यही है जिसमें कि हम चल रहे हैं। अज्ञान श्रद्धाशाली गृहस्थ बिचारे धर्मगुरुओंके वचन पर पूर्ण विश्वास रख तहत्ती–तथेव इति, जी महाराज कह कर वैसा ही स्वीकारते हैं।

जो महात्मा महावीरके परम त्यागमय पवित्र निर्ग्रन्थ साधु मार्गको जानते हुये और अपने अन्दर देश कालके अनुसार भी उसमेंसे कुछ न होने पर गृहस्थोंमें अपने आपको खरा निर्ग्रन्थ–सच्चा साधु ख्यापन करते हैं उनकी प्रवृत्ति वैसी ही समझना चाहिये जैसे कि एक पतित आचार वाली स्त्री अपने पतिताचारको जानती हुई भी लोगोंमें अपने आपको सती कहला कर खुश होती हो और उसे सब सती ही मानें इस प्रकारका सदैव प्रयत्न करती हो। इस प्रकारकी आचरणासे द्विगुणा गुन्हा किया जाता है।

इस तरहकी अलीक आचरणाके हम प्रथम ही मुख्यत दो कारण बतला चुके हैं, एक तो तथाप्रकारका त्यागमय संयम पालन करनेमें **मानसिक कमजोरी** और दूसरा अनेक प्रकारकी **सांसारिक क्षुल्लक लालचें** । मानसिक कमजोरी दूर होने पर भी सांसारिक लालचोंका परित्याग करना बड़ा ही कठिन काम है । यद्यपि बाह्यतः तो उन लालचोंका त्याग करने पर ही साधु मुद्रा प्राप्त होती है, किन्तु जब तक मनसे उनका परित्याग न किया जाय तब तक भावसे साधुपना प्राप्त ही नहीं होता । योगी महात्माओंको भी सांसारिक लालचें किस प्रकार जीवन दौडमें पीछे पटकती हैं इस बातको समझने के लिये आप निम्न दृष्टान्त पढिये ।

यूरोपमें एटलान्टा नामक एक लेडी थी, वह दौडमें इतनी हुशियार थी कि उस समय दूसरा मनुष्य उसकी बराबर न दौड सकता था । एक समय किसी एक मनुष्यके साथ दौडनेकी शरत लगी । जिस मनुष्यको एटलान्टाके साथ दौडना था उसने अपने प्रिय देवकी आराधना कर एट-लान्टाको किस प्रकार जीतना यह सवाल किया । देवने कहा एटलान्टा अन्य किसी प्रकारसे भी नहीं जीती जा सकती, यदि वह जीती जा सकती है तो उसका एक मात्र उपाय यही है कि जिस रास्ते परसे दौडनेका निश्चित हुआ है उस तमाम रास्ते पर अन्त तक सुवर्णके टुकडे डाल दो । इस युक्ति सिवाय अन्य कोई युक्ति ही उस देवके पास न थी, क्यों कि एट-लान्टाको एक महान देवताकी ओरसे वरदान मिला हुआ था कि जिस कारण वह सबसे बलवती और त्वरित गति-वाली थी ।

अपने इष्ट देवकी सलाहसे उस मनुष्यने दौडके रास्तेमें सुवर्णके टुकडे डाल दिये और एटलान्टा को दौडनेके लिये कहा गया। एटलान्टाके साथ उस मनुष्यने भी दौडना शुरु किया। वह मनुष्य एटलान्टासे बहुत कमजोर था अतः एटलान्टा शुरुआतसें ही आगे बढ़ी। एटलान्टाने दौडते हुये आगे रास्तेमें सुवर्णखंड पड़ा देखा, वह मनुष्य न देख सके उस प्रकार आंख बचाकर एटलान्टाने उस सुवर्ण खंडको उठा लिया। दैव योग इतनेमें वह मनुष्य एटलान्टासे दश पांच कदम आगे निकल गया। एटलान्टाको उस मनुष्यके आगे निकल जानेकी कुछ भी चिन्ता न थी, क्योंकि एटलान्टाकी गतिके सामने वह विचारा कुछ हिसाबमें ही न था। एटलान्टा पुनः क्षण वारमें आगे निकली। आगे फिर रास्तेमें सुवर्णकी ईंट पडी देखी, उसने फिर उस ईंटको उठाया। वह मनुष्य फिरसे आगे निकल गया था, परन्तु एटलान्टाकी दौडके सामने वह कितना आगे जा सकता था? एटलान्टा फिर उससे आगे निकल गई। परन्तु रास्तेमें पड़ी हुई उन ईंटोंकी लालचने उसे बराबर वश कर लिया। वह मार्गमें पड़ी ईंटों को उठाती गई, अतः अब उसकी गतिमें रुकावट करनेवाला उन ईंटोंका कुल वजन भी उसके प्राप्त हो गया और उस दौडमें आगे निकल कर विजय प्राप्त करनेके बदले उन ईंटोंकी लालचने ईंटें उठाना ही उस का मुख्य लक्ष्यबिन्दु बना दिया। वह बिचारा दुर्बल मनुष्य अपनी धुनमें तन तोड प्रयत्नसे भागता रहा, परन्तु एटलान्टा तो अपनी शीघ्रगतिके घमंडमें रह कर उन ईंटों की लालचसे रास्तेमें ठहर ठहर कर उन्हें बटोरती गई। दौडकी हाल्तके अन्तिम स्थान तक इसी प्रकार ईंटोंके बटोरनेने एटलान्टा

पीछे पड़ी और वह कमजोर मनुष्य जो अपने आपको एट-लान्टासे दुर्बल समझ कर भरशक प्रयत्नसे आगे भागता रहा अन्तमें एटलान्टासे आगे निकल गया।

एटलान्टा—जिसे महान् देवके वरप्रदानका गर्व था और जो अपनी शीघ्र गतिके प्रभावसे अपने जीवनमें किसीसे भी परास्त होना सर्वथा असंभवित मानती थी उसे सुवर्ण बटोरनेकी लालचने परास्त कर दिया। वे तमाम सुवर्णकी ईंटें और पराजित हुई एटलान्टा उस मनुष्यको ही मिली।

आधुनिक धर्मगुरुओंकी—पूज्य साधु मुनिराजोंकी विशेषतः बराबर एटलान्टाके समान ही परिस्थिति है।

आत्म कल्याण की सर्वसामग्री प्राप्त होने पर भी सांसारिक तुच्छ लालचोंने उनकी जीवन दौडका लक्ष्य बिन्दु ही बदल डाला। मनुष्य मात्रके लिये यह शाश्वत नियम है कि **जिस प्रकारका उसका आदर्श हो उसी प्रकारकी उसकी बहुधा प्रवृति होगी।** जब आदर्श ही हलका हो तो उच्च प्रवृत्ति होना असंभव ही है। लोगोंको दिखलाने के लिये भले ही बाह्यतः शुभ प्रवृत्ति की जाती हो परन्तु अभ्यन्तरीय प्रवृत्ति भिन्न होनेके कारण बाह्य शुभ प्रवृत्तिकी कुछ कीमत नहीं मिलती। इस लिये उच्च मार्गमें आरूढ हुये महात्माओंको अपने परम ध्येयको लक्ष्यमें रख कर अपने मार्गमें आनेवाली लालचोंका परित्याग करना चाहिये।

वास्तवमें यह प्रपंच अज्ञानताके कारण ही आचरा जाता है। जिस समय मनुष्य अपने आपको पहचान लेता है फिर वह परपदार्थों में आसक्त नहीं होसकता। परन्तु जिसे स्व और पर वस्तुका ज्ञान नहीं रहता वह स्वकीयको पर और परकीय

वस्तुको स्वकीय समझ कर प्रवृत्ति करता है और उसीसे वह अपनी आत्माको मलीन करता है ।

एक मनुष्य पेट और आंखोंकी व्याधिकी पीडासे पीडित रहता था। एक रोज वह किसी एक वैद्यके पास गया और अपने पेट तथा आंखोंके व्याधिका बयान कर उसने वैद्यराजसे अपनी दोनों व्याधियाँ दूर करनेकी दवा मांगी। वैद्यराजने उसे दोनों रोगोंके दूर करनेकी दवा जुदी जुदी दो पुडियामें बाँध कर देदी। आंखोंमें डालनेकी दवा सीसा और गंधककी मिश्रणतासे बनाया हुआ सुरमा था। वह दवा मात्र आंखों में ही डालनेकी थी परन्तु खानेकी नहीं थी, क्योंकि वह एक प्रकारका विष ही होता है। दूसरी दवा जो पेटका रोग दूर करनेके लिये दी थी उसमें मिरचें वगैरह गरम मसाले डाले हुये थे। यद्यपि वैद्यराजने दोनों रोगोंकी दवा जुदी जुदी दी थी और दोनों दवाका गुण दोष भी समझा दिया था तथापि वह मूढ मनुष्य घर जाकर उन दोनों दवाओंके भेदभावको भूल गया। अर्थात् उसने आंखोंकी दवा पेटकी और पेटकी दवा आंखोंकी समझ कर खाली। आंखोंकी दवा खालेनेसे और खानेकी आंखोंमें डाल लेनेसे परिणाम यह हुआ कि आंखें निस्तेज हो गईं और पेटका व्याधि भयंकर रूप पकड गया, इतना ही नहीं बल्कि उसका व्याधि असाध्य रोग बन गया।

आत्म कल्याणके मार्गमें चलने वालोंकी भी प्रायः आज वैसी ही दशा देख पडती है। दुनियामें अकर्तव्यके अस्तित्वका कारण भी यही देख पडता है। यहाँ पर आंखके समान अपने अन्दर रही हुई परम ज्योतिर्मय आत्मा सम

जाना और पेटके स्थान पर शरीर। जो आत्मार्थ करना था वह शरीरके अर्थ किया जाता है और जो शरीरके लिये कर्तव्य था वह आत्माके लिये किया जाता है। आत्मीय धर्म शरीरमें और शारीरिक धर्म आत्मामें आरोपित किया जाता है।

महावीर प्रभुके समयका अवलोकन करने या उनके द्वारा कथन किये गये मोक्ष मार्गके साधनोंमें प्रायः सर्वथा परिवर्तन--उलटा सुलटा पन देख पडता है। धर्मगुरुओंने अपनी अनुकूलता के अनुसार परम त्याग मूर्ति महावीर प्रभु के कथन किये हुये कडक मार्गको आज बड़ा ही सरल मार्ग बना दिया। प्रायः हरएक वस्तुको ऊंधी सीधी कर डाली है। इसी कारण आज हरएक वस्तुस्वरूपके ज्ञानकी भ्रान्ति हो गई देख पडती है। पूज्य धर्मगुरु अपने धार्मिक व्याख्यानोंमें सम्यक्त्वका स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि आत्मीय तथा अनात्मीय वस्तु स्वरूपका तत्त्व ज्ञान होने पर सम्यक्त्व गुण रत्नकी प्राप्ति होती है, और धर्मगुरु तो अवश्य ही उस वस्तुका अधिकारी—मालिक होता है। साथमें यह भी स्मरण रहे कि जिसे यह आत्मीय एवं अनात्मीय वस्तुस्वरूका यथार्थ तत्वज्ञान——सम्यग्ज्ञान हुआ हो, अनात्मीय वस्तुओंमें उसकी सन्मानित —सादर दृष्टि कदापि नहीं रहती। अन्य साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा उसकी मानसिक वृत्ति एवं शारीरिक प्रवृत्तिमें दिन रातके समान अन्तर पड़ जाता है। वास्तविक वस्तु स्वरूपको समझनेवाले धर्मगुरुके लिये पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतर आता है। वह मानव जन्ममें ही देवोंका भी देव बनता है। परन्तु जो स्वयं ही वस्तुस्वरूपको--अपने आपको

और अपने पवित्र कर्तव्यको उलटा समझ कर प्रवृत्ति करता है उसके लिये स्वर्ग भी भयंकर नरक बन जाता है। पूज्य मुनिराजोंमें वास्तविक वस्तु स्वरूपके तत्वज्ञान-का अभाव होने के कारण ही आज वे अन्यका छोड़ अपनी आत्माका भी कल्याण करनेमें असमर्थ देख पडते हैं। ईर्षा द्वेषकी भी तीव्रताका मुख्य कारण अज्ञानता ही है और अपने आहितकी प्रवृत्तिका मूल कारण भी अज्ञान ही हो सकता है। चाहे जैसी लालच क्यों न हो परन्तु ज्ञान दशामें वह एक महात्मा या जीवात्माके कर्तव्य मार्गमें कदापि हरकत नहीं कर सकती। जब मनुष्य किसी लालचके गढेमें पडता है उससे पहले ही उसके ज्ञान गुण दीपक पर अज्ञानताका पड़दा पड़ जाता है। फिर वह उस अन्धकारमें अपने कर्तव्य मार्गसे च्युत होकर गमन करता है। जिस वस्तुतत्त्वज्ञान—सम्यग्ज्ञानकी सूक्ष्म समस्या दूसरोंके लिये हल की जाती है वास्तवमें उस वस्तुस्वरूपके तत्त्वज्ञानसे वे धर्मगुरु सर्वथा अनभिज्ञ हैं. जो आत्मस्वरूपको मलीन करने वाली सांसारिक तुच्छ लालचोंके लिये अपनी सर्व शक्तिका दुरुपयोग कर अपने अनुयायिओं सहित महावीरके कथन किये मार्गसे विमुख हो गमन करते हैं। अपनी अनुकूलतानुसार प्रचलित की हुई रूढीको ही जो महावीरका कथन किया मोक्षमार्ग बतलाते हैं और उस रूढीको ही पुष्ट करनेमें प्रतिवर्ष भक्त गृहस्थोंका लाखों रुपया खर्च कराकर अपने आपको परम श्रेयका संपादक मानते हैं, इतने मात्रसे ही अपनी आत्माको कृतकृत्य समझते हैं, वे बिचारे आडंबरप्रिय धर्मगुरु तत्वज्ञानिओंके दया पात्र हैं। जिस समाजके धर्मगुरु अपने अनुयायी गृहस्थों

की मान बडाई संपादन करनेके लिये ही अपनी सर्व प्रवृत्ति करते हों, तावन्मात्रसे ही अपने जीवनके परम साध्यकी सिद्धि समझते हों उस समाज के धर्मगुरुओंमें आत्मविकाशके परम साधन वास्तविक वस्तु स्वरूपके सूक्ष्म तत्त्वज्ञानका अभाव होना सिद्ध ही है। जहाँ तक तत्त्वज्ञान नहीं होता वहाँ तक वैराग्यका अस्तित्त्व सर्वथा निर्मूल है और जब तक वैराग्यका अस्तित्व नहीं तब तक लालचों पर विजय प्राप्त करना अशक्य है। लालचों पर विजय प्राप्त किये विना साधुपन प्राप्त ही नहीं होता। मानेषणा, लोकेषणा, विषय वासनादि तमाम स्वार्थ वृत्तियोंका परित्याग करने वालेको ही साधुपन प्राप्त होता है। साधुपन पीले वस्त्र पहननेसे प्राप्त नहीं होता, साधुपन भीख मांग खानेसे प्राप्त नहीं होता, साधुपन मस्तक मुंडानेसे प्राप्त नहीं होता, साधुपन सिरकेश लुंचन करनेसे प्राप्त नहीं होता, साधुपन पाट पर बैठकर सभारंजक व्याख्यान देनेसे या भक्त लोगोंके दिये हुये आचार्य, उपाध्याय, पंन्यास, व्याख्यान वाचस्पति आदि आरोपित टाईटलोंसे प्राप्त नहीं होता, परन्तु मनोद्यान में जन्म धारण करने वाली स्वार्थीय वृत्तियों—लालचोंका मरदन—निर्मूलन करनेसे ही साधुपन प्राप्त होता है। साधुपदकी प्राप्तिके साथ ही चिन्ता, उद्वेग, ईर्षा, द्वेष ममत्व आदि दोष स्वयं नाश होजाते हैं, फिर हृदयमें परम शान्ति, परम धैर्य, वास्तविक प्रेम, परम सत्य, परम प्रमोद—परम आनंद प्राप्त होता है। वह अपने आपको पहचानने लगता है और जो अपने आपको पहचानता है वही समस्त वस्तु-स्वरूपके तत्त्वज्ञानको जान सकता है। अथवा यों कहो कि जो समस्त वस्तु स्वरूपका तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है वही एक

अपने आपको पहचान सकता है। जब तक अपने आपकी पहचान न हो तब तक आन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना दुःसाध्य है। जो महात्मा अपने आपको पहचाने विना ही बाह्यवृत्तिमें सुख प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिमें मच रहे हैं वे व्यर्थके ही कष्टोंमें अपने अमूल्य जीवनको व्यतीत कर अन्तमें खेदको प्राप्त होते हैं। इस बातको स्पष्ट करनेमें महात्मा स्वामी रामतीर्थका दिया हुआ दृष्टान्त ही काफी होगा।

एक लड़का जो अभी लग भग एक वर्षकी ही उमरवाला था, जिसे अभी तक अपने पैरोंसे चलना न आता था, घुटनियों से ही चलता था एक दिन खेलते हुये उस बच्चेकी दृष्टि अपने पड़छायें पर पडी। उस बच्चेको वह बडी ही अजब चीज-मालूम दी, अतएव वह उसे पकडनेका विचार कर घुटनियोंसे उसकी ओर चला। वह बच्चा उस अपने पडछायेका मस्तक पकडना चाहता था। ज्यों ज्यों वह बालक उस मस्तक की ओर चलता है त्यों त्यों वह मस्तक भी उसी प्रकारकी गति से आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार जब वह मस्तक लडके के हाथों न आया तब वह बालक मनमें दुःखित हो रोने लगा, परन्तु उसे पकडने की प्रवृत्ति तो उसने चालू ही रक्खी। वह बच्चा जब पड जाता तब वह मस्तक जिसे वह पकडना चाहता था भी पड जाता था। बच्चा उठ कर चलता तो वह मस्तक भी आगे चलता था, इससे उस बालकको बडा ही आश्चर्य युक्त दुःख होता था। अन्तमें वह बालक थक कर जमीन पर गिर-पड़ा और उसकी इच्छा पूर्ण न होनेके कारण वह फूट फूट कर रोने लगा। इतने में ही उसकी माता जो दूर बैठी उसकी सर्व चेष्टायें देख रही थी वहाँ आई, उसने बच्चेको उठा कर

उसका हाथ उसके मस्तक पर रख दिया। अब उस परछायेका मस्तक उस बालकके हाथमें आ गया ॥

इसी प्रकार मनुष्य भी अज्ञानता वश अपनी आत्मामें ही समाये हुये अनन्त सुखकी ओर दुर्लक्ष कर संसारकी तुच्छ लालचोंमें सुखके स्वप्न देख कर उन्हें प्राप्त करनेके प्रयत्न में ही अमूल्य जविन व्यतीत करते हैं। परन्तु अन्तमें सुखका लेश भी न मिलनेसे वे खेदको प्राप्त होते हैं।

पूज्य मुनिवरो! यदि आप वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहते हो, यदि आप समस्त सृष्टिपदार्थके तत्वज्ञानको प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हारे परछायेके पीछे न दौड कर प्रथम अपने आपको पहचानो। अपना मस्तक पकडो, अपने अन्दर पैदा होनेवाली बाह्य लालचोंको नष्ट कर अपने मन पर पूर्ण संयम प्राप्त करो, आप अन्तरमुख बनो, अपने भीतर रहे हुये अपने प्रभुके—आत्माके दर्शन करो, उसीकी उपासना करो। फिर देखो समस्त संसारके पदार्थ तुम्हारी ठोकरोंमें आ पड़ेंगे। दुनियाके सर्व मोहक एवं आकर्षक पदार्थ तुम्हारे स्वाधीन हो जायँगे, पर उस परिस्थितिमें तुम्हें वे तुच्छ और तुम्हारे परछायेके समान भासित होंगे।

अहा कैसी आश्चर्यकी बात है कि गीतार्थ कहलानेवाले भी महामुनि आज परछायेको पकडनेके समान संसारकी क्षुद्र मान बडाई प्राप्त करनेके लिये दौड धूप कर रहे हैं। ज्ञानी कहलाते हुये भी उनका अन्तःकरण अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण देख पड़ता है। पवित्र हृदयी कहलाते हुये भी

उनका हृदय क्रोध, मान, माया, लोभ और असहिष्णुता आदि अपवित्र दोषोंसे सना हुआ देख पड़ता है। शिष्ट भाषी कहलाते हुये भी उनकी सरस्वती-वाणी कटु एवं द्वेषगर्भित मार्मिक वाक्योंसे दूषित देख पड़ती है। सरल स्वभावी कहलाते हुये भी वे दम्भतासे दूषित देख पड़ते हैं। निस्पृह कहलाते हुये भी लालचोंके दास बने देख पड़ते हैं। अपरिग्रही कहलाते हुये भी वे सीधे या वक्र तौरसे आकण्ठ परिग्रहमें डूबे देख पड़ते हैं। सत्यवादी कहलाते हुये भी वे अपनी मान बडाईके लिये असत्य कार्य करते देख पड़ते हैं। यदि वे अपने आपको पहचानें, यदि वे अपने आत्मस्वरूप मस्तकको पकडें तो संसारकी क्षुद्र वासनायें, मानसिक कमजोरीके कारण अपने भीतर पैदा होनेवाली नीच वृत्तियें रूप परछाया स्वतः ही उनके स्वाधीन हो जाय।

प्रिय पूज्य धर्मगुरुओ! अब इस ज्ञानभानुके उदयमें जरा करवट तो बदलो, इस कुम्भकरणी निद्राको छोड़ो, उठो सच्चे धर्मसिंह बन कर गर्जना करो। तुम्हारी शिथिलताके कारण देशका अधिकांश भाग धर्मसे विमुख हो गया हो रहा है। तुम्हारी दयासे वंचित हो जनता अधर्मको धर्म समझ कर अपने विकाश मार्गसे परांमुख हो रहा है।

प्रिय धर्मगुरुओ! धर्म, समाज एवं देशकी उन्नति आप महात्माओं पर ही निर्भर है। आप ही धर्मकी उन्नति कर सकते हैं, क्यों कि आप धर्मके ज्ञाता हैं। धर्मगुरुओ! आप ही समाजकी पड़ती दशाको समुन्नत कर सकते हैं, क्यों कि समाज का आपके वचनों पर विश्वास

है, आप पर पूर्ण श्रद्धा है। यदि चाहो तो आप ही गुलामी भोगते हुये इस पवित्र बूढ़े भारत को आजाद कर सकते हो, क्यों कि भारतकी धर्मप्रिय जनता सदैव अपने प्रिय धर्मगुरुओंके कथन पर चलने एवं प्राण तक समर्पण करनेको कटी बद्ध रही है रहती है और रहेगी।

प्रिय धर्मगुरुओ ! आप जरा हिम्मत धारण कर सामाजिक मान मर्यादाके बन्धनोंको तोड़ डालो। जब तक आप समाजसे मिलनेवाले मान सन्मानकी ओर देखते रहेंगे तब तक आप कोई भी ऐसा कार्य करनेके लिये समर्थ न होंगे कि जिससे आत्मविकास हो सके। सामाजिक मान सन्मान प्राप्त करनेकी दृष्टि अपने पवित्र ध्येयका हनन करनेवाली है इतना ही नहीं किन्तु एक जन्म कैदकि समान जिन्दगी पर्य्यन्त मिथ्या बन्धनोंमें जकड़ कर अपने अमूल्य मानव जन्मको नष्ट करनेवाली है। बन्धन प्रपंचजालमें जीवन गुजारनेवाले गृहस्थोंके लिये लाभदायक हो सकते हैं किन्तु ज्ञानी धर्मगुरुओंके लिये बन्धनममत्व उनके आत्मविकासका शत्रु है। पूज्य ज्ञानी धर्मगुरुओ ! यदि आप सन्मान ही चाहते हैं तो अज्ञानी मनुष्योंसे प्राप्त होनेवाले तुच्छ—निर्माल्य सन्मानको छोड़ कर सार्वजनिक विद्वान वर्गसे मान सन्मान प्राप्त करो। अपने मठोंका (उपाश्रयोंका) ममत्व छोड़ कर एक अमुक समाजके ही नहीं किन्तु अखिल भारतके पूज्य धर्मगुरु बनो।

गंडरियेके बाड़ेमें बँधी हुई भेड़के समान बाड़बन्दीमें

ही लोकेषणा वश अपने अमूल्य जीवनको नष्ट करना। यह कई भवों तक सन्मुख हुये अपने आत्मविकासका तिरस्कार करना है।

यदि वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो जिस एक अमुक अज्ञान वर्गसे अपने जीवनकी कदरके बदलेमें नहीं किन्तु उसकी हांमें हां मिला मात्र दृष्टिरागके बदलेमें आप जो कुछ झूठा सन्मान प्राप्त करते हैं उसकी अपेक्षा यदि आप अपने पवित्र देव महावीर प्रभुके सिद्धान्तानुसार सर्व जन समाज पर समान दृष्टि रख कर जाहिर जीवनमें धर्मोपदेशकका कार्य करें तो आप अवश्य ही सार्वजनिक विद्वान वर्गकी सच्ची मान बड़ाई प्राप्त करते हुये सैकड़ोंको तो क्या, बल्कि हजारों ही मनुष्योंको सन्मार्गमें नियोजित कर महावीरके सच्चे पुत्र बननेका वास्तविक अधिकार प्राप्त कर सकोगे और इस अवस्थामें अज्ञाततया पड़े हुये अपने अमूल्य पवित्र जीवनको लाखों मनुष्योंको अनुकरणीय हो वैसा बना सकोगे। इस लिये प्रिय धर्मगुरुओ! जिसके लिये अपनी आत्म ध्वनिके विरुद्ध कार्य करना पड़े या उसे अन्दर ही मसोस कर दबा रखना पड़े उस महान हानिकारक लालचको लात मारो। उसे मानसिक बल द्वारा कुचल डालो। वास्तविक नहीं किन्तु मिथ्या मतान्धताका परित्याग कर इस प्रगतिशील युगमें अकर्मी बननेके लिये (शुद्धात्मस्वरूप प्राप्त करनेके लिये) प्रेम पूर्वक सर्व जन समाजकी सेवारूप कर्म करनेका बीड़ा उठालो। जिससे आत्मा विकासमें हानि पहुँचे उस प्रकारके धार्मिक बन्धनोंको न छोड़ कर अन्य बन्धनोंको विशेष महत्व न देकर परोपकारके मैदानमें जितना दौड़ा जाय दौड़ो।

इतना अवश्य स्मरण रक्खो कि जो कार्य करो उसके प्रारम्भसे पहले उस पर शान्त चित्तसे पूर्वापर विचार करो। उसके प्रारंभिक परिणामको नहीं किन्तु अन्तिम परिणामको देखो। कोई भी कार्य किसी प्रसंगवश आवेशकी झुल झुलमें आकर बिना विचारे मत करो अपनी वर्तमान स्थिति सुधारनेके लिये और यदि सुधरी हुई है तो उसका विशेष विकाश करनेके लिये अपना परम कर्तव्य समझ कर अवश्य विचार करो।

॥ इति शम् ॥

श्री आत्मतिलक ग्रन्थसोसायटी द्वारा छपी हुई
महत्त्वपूर्ण और सस्ती कीमतकी पुस्तकें

गुणस्थान क्रमारोह.

यह अध्यात्म विषयक ग्रन्थ है। इसमें चार प्रकारके ध्यानका सविस्तर स्वरूप लिखा गया है। प्रथम गुणस्थानसे लेकर जीवात्मा किस प्रकार श्रेणी आरूढ होकर आत्म चिन्तन द्वारा कर्म प्रकृतियोंको क्षय करता हुआ या उपशमाता हुआ ऊपरके गुणस्थानोंको प्राप्त कर कैवल्य ज्ञानकी प्राप्ति करता है, इस विषयका सविस्तर स्वरूप क्रमानुसार लिखा गया है। इसके अलावा गृहस्थ धर्मके बारह व्रतों, ग्यारह प्रतिमाओंका एवं मोक्षका स्वरूप भी सरल भाषामें बहुत ही उमदा लिखा गया है। अतः मोक्षाभिलाषी एवं अध्यात्म मार्गानुयायी मनुष्योंको यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये। इसके पढनेसे जिज्ञासु मनुष्योंको तत्वज्ञानकी प्राप्तिका लाभ हो सकेगा।

पुस्तककी छपाई सम्बन्धी सफाईकी प्रशंसा करना व्यर्थ है, बढिया ग्लेज पेपर डेमी आठ पेजी साईजके दोसो पृष्ठ और सुनहरी अक्षरोंवाली सुन्दर रंगीन पक्की जिल्द तथा अन्दर दो फोटोग्राफ इत्यादि सब कुछ होने पर भी इस दलदार महत्त्व पूर्ण पुस्तककी कीमत मात्र सवा रुपया है।

परिशिष्ट पर्व।

इस पुस्तकमें महावीरके बादका इतिहास है। महावीर प्रभुकी पट्ट परंपरामें जो जो प्रभावली महान आचार्य हुये

हैं उन सबका सविस्तर पवित्र जीवन चरित्र इस पुस्तकमें है जम्बूस्वामीके चरित्रान्तरगत अठारह कथायें और आदिमें ही वल्कलचीरी एवं प्रसन्नचंद्र राजर्षिके जीवनकी घटनायें बड़ी ही वैराग्य और शिक्षा देनेवाली हैं।

यह पुस्तक दो भागोंमें विभाजित है। पुस्तककी छपाई व सफाई बढिया है, इस पुस्तकमें भी दो फोटोग्राफ दर्ज हैं। खूबी तो इसकी सस्ताईमें है, डेमी आठपेजी साईजके तीनसो सत्तर पृष्ठ होने पर भी कीमत मात्र डेढ रुपया है।

जैनसाहित्यमां विकार थवाथी थयेली हानि।

जैनसमाजमें पंडित बेचरदासजीको कौन नहीं जानता ? उन्हींकी प्रौढ लेखनीसे गुजराती भाषामें लिखा हुआ यह ग्रंथ है।

इस पुस्तकका जैसा नाम है सचमुच उसी प्रकारके वर्णनका यह हूबहूब जीता जागता चित्र है। महावीर प्रभुसे लेकर आज तक महावीरके अनुयायी मुनिवरोंके आचार विचारमें एवं जैन साहित्यमें किस किस समय पर किस किस प्रकार निवर्तन परिवर्तन हुआ, जैन समाजकी दिगम्बर श्वेताम्बर दो शाखायें कब और किस कारण जुदी पड़ीं, चैत्यवाद एवं चैत्य द्रव्य आदि विषयोंका वर्णन इतिहासकी दृष्टिसे सूत्र सिद्धान्तोंके प्रमाण सहित लिखा गया है। इस महत्त्वपूर्ण पुस्तककी एक एक प्रति हरएक जैनको अपने पास रखनी चाहिये। क्रौन सोलह पेजी साईज २०३ पृष्ठ होनेपर भी इस दलदार पुस्तककी कीमत मात्र एक रुपया है॥

महावीर शासन, ... मूल्य ।=)
संयम साम्राज्य, ... मूल्य ।-)

गजल।

जरा ध्यान देके सुनलो, पद साधु पाने वालो।
सुनके विचार करलो, हित मार्ग जाने वालो ॥
जिस हेत भेख धारा, उस ध्येयको बिसारा।
भवासिन्धुका किनारा, फिर कैसे पाने वालो ॥
साधुत्वको न जाना, निजरूप ना पिछाना।
बानियोंका माल खाना, पदवीके मोह वालो ॥
महावीरके पुजारी, है क्या दशा तुम्हारी।
क्यों ऐक्यता बिसारी, झगडे, मचाने वालो ॥
आत्मध्वानि दबाई, परहां में हां मिलाई।
सन्मानकी कमाई, तनतोड करने वालो ॥
जाने हो यह सभी तो, ऐसे बने तभी तो।
बाकी पतन अभी तो, है मान खाने वालो ॥
इसमें न माल भाई, मिथ्या सभी बडाई।
यह जिन्दगी गँवाई, दो दिनका मान पालो ॥
ओ धर्मआगे वानो !, कुछ देश काल जानो।
मेरे कैहे को मानो, निज धर्मको संभालो ॥
लालचको लात मारो, कर्तव्य दिलमें धारो।
स्वाचारको सुधारो, स्वर्गीय पन्थ वालो ॥

--भिक्षु तिलक विजय पंजाबी।